मृत्यु के बाद

अंतर्भारतीय पुस्तक-माला

मृत्यु के बाद

शिवराम कारंत

अनुवाद

गुरुनाथ जोशी

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

भूमिका

उपन्यास लिख तो रहा हूं, लेकिन उसकी भूमिका लिखने में उदासीन-सा हूं। जिस बात को एक पूरा उपन्यास न समझा सके, वह मात्र भूमिका के द्वारा कैसे समझाई जा सकती है? उपन्यास लिखने के उद्देश्य को अगर स्वयं उपन्यास ही न बता पाए, तो उसे लिखने का लाभ भी क्या है? ऐसे ही कारणों से मैं भूमिका के प्रति कुछ अनमना हूं।

फिर भी कुछेक बातें और कहने की इच्छा कभी-कभार होती है, सो लिखने का लोभ संवरण नहीं कर पाता हूं। मानव-जीवन में अंततः क्या बचा रहेगा, इसे ढूंढ देखने के प्रयत्न की दृष्टि उपन्यास में है। जीवन के बाद शेष रह जाने वाली चीजें केवल स्मृतियां ही हैं। राह चलने वाला जैसे अपने पैरों के निशान छोड़ता हुआ चला जाता है, शायद उसी तरह व्यतीत जीवन का लेखा-जोखा इस बात से निर्धारित होता है कि उसने औरों पर क्या और कितना प्रभाव अंकित किया है। हर राहगीर यही सोचता हुआ आगे बढ़ता है कि उसका जीवन दूसरों पर और गहरी छाप छोड़ जाएगा। लेकिन ऐसा कर सकने का भाग्य कितनों को मिलता है! इस उपन्यास के यशवंतजी सरीखे लोग संसार में जनमते हैं, जीते हैं, और मर जाते हैं। अपने संपर्क में आए कुछ लोगों के लिए वे हितकर और आत्मीय होते हैं, और कुछ के लिए निरपेक्ष और अनस्तित्व। मानवीय संपर्क से उपजे हुए अच्छे-बुरे प्रभावों को मिलाकर मैंने यशवंतजी के जीवन को पहचानने की कोशिश की है। यह उनके छोड़े हुए पग-चिह्नों का पीछा करने जैसा काम है।

वह राहगीर थे, और मैं थोड़े-से परिचय के जरिये उनके चिह्नों की खोज में निकला हुआ। उनके जीवन को मैंने अपने विवेक से ही मापने का प्रयत्न किया है। मैं तो मात्र एक निरीक्षक की हैसियत से इस उपन्यास में हूं। जैसे 'बेट्टद जीव' उपन्यास में मैं जिस भूमिका में था, उसे एक बार और इसमें भी निबाह रहा हूं। वह एक तरह की थी, यह एक और तरह की है। वह जीवन-काल की सचाई थी, यह मृत्यु के बाद खोजी गई सचाई है।

कल दूसरे लोग हमारे जीवन को भी इसी तरह देख सकेंगे, जबकि हमारी मृत्यु हो चुकी होगी। वे शायद इसे समझने का प्रयत्न भी करें। और वे समझें-न समझें, इतना तो तय है कि हमारे जीवन की भाव-भंगिमाएं चारों ओर के जीवन पर व्यापक असर छोड़ती हैं। जैसे हजारों प्रभावों में हमारा प्रभाव भी शामिल हो जाता है। मृत्यु के मुख में समा

जानेवाला कोई भी जीवन व्यर्थ नहीं होता। लेकिन मन यह भी कहता है कि जीवन को जितना हो सके सार्थक बनाने का प्रयत्न करते रहना ही मानव का धर्म है।

उपन्यास छप जाने के बाद उसे दस-बारह मित्रों को भेजने की आदत मैंने बना ली है। वे उसे पढ़ते हैं; हालांकि मेरा ऐसा कोई आग्रह नहीं होता कि उसे सभी अवश्य पढ़ें। कुछ मित्र जरूर पढ़ते हैं और अपनी राय से मुझे अवगत करा देते हैं। कुछ मित्र ऐसे भी हैं, जो मिलने पर अपनी धारणा और आपत्तियां बताते हैं। मेरे युवामित्र श्री बी. ए. तुंग ऐसे ही स्वभाव के थे। यह उपन्यास लिखने के दौरान मैंने एक पत्र में उन्हें लिखा था, "मन में आज तीव्र वेदना और छटपटाहट महसूस कर रहा हूं। कुछ दूसरे अपरिचित प्रसंग भी इन्हीं दिनों सामने आए हैं, और वे यद्यपि संतोषजनक हैं, फिर भी मुझे उनकी व्यथा ने घेर लिया है। इस उपन्यास की रचना में लगा हूं – शायद उससे कुछ मुक्ति मिल सके। सिर्फ यही एक संतोष है।"

उपन्यास पूरा किया और छपने भेज दिया। सोचा था, गहरी पीड़ा के क्षणों में रची गई यह कृति जब अपने मित्र को भेजूंगा, तो पढ़कर उनमें जाने कैसे-कैसे कुतूहल और संदेह उमड़ उठेंगे। लेकिन वह दिन कभी नहीं आया। प्रेस से बाहर आने में उपन्यास को काफी देर हो गई। और, इसी बीच मेरे मित्र तुंग एक दुर्घटना में चल बसे। उस अंतरंग मैत्री की गहन स्मृति को यह उपन्यास समर्पित करने का विचार मन में आया। वह उम्र में मुझसे कम-से-कम वीस वर्ष छोटे थे। पहले कभी सोचा भी नहीं था कि यह पुस्तक उनकी मृत्यु की स्मृति बनेगी।

तुंग बाक्कुदुर में पैदा हुए थे, जो कि मेरे जन्म-स्थान से पांच ही मील की दूरी पर है। लेकिन हमारा परिचय और स्नेह-संबंध सिर्फ सात-आठ वर्ष पुराना था। 1951 के आम चुनावों के दौरान वह जब प्रेस ट्रस्ट ऑफ इंडिया के संवाददाता की हैसियत से हमारे जिले में आए, तभी उनसे मेरा परिचय हुआ था।

और यह अल्प परिचय बढ़ते-बढ़ते गहरे स्नेह-भरी अंतरंगता में बदल गया। तुंग सामान्य इकहरे और गौर शरीर के थे। शरारत-भरी हंसी हमेशा चेहरे पर चमकती थी। उनकी झीनी मुस्कराहट और चमचमाती आंखें उनके समृद्ध विवेक की परिचायक लगती थीं। उनकी बुद्धि जितनी गहन और समृद्ध थी, उतनी ही उनकी वाणी भी।

प्रखर विचारशीलता के साथ-साथ उनका खुला और उदार हृदय उनके सहज स्वभाव की विशिष्टता थी। अपनी साहसिक प्रवृत्तियों के कारण इतनी कम उम्र में ही उन्होंने पत्र-पत्रिकाओं और पी. टी. आई. जैसी समाचार-संस्थाओं में पर्याप्त ख्याति हासिल कर ली थी। वह एक रोशन व्यक्तित्व हो गए थे। उनके स्नेह-संपर्कों का दायरा बहुत बड़ा था। पाकिस्तान में दो-तीन वर्ष तक पी. टी. आई. के संवाददाता के रूप में रह चुके थे। कहना चाहिए कि भारत सरकार उनकी कार्यकुशलता से प्रसन्न थी। अय्यूब खां के सर्वेसर्वा

होने का समाचार सबसे पहले उन्होंने ही प्रकाशित किया था; उन्होंने ही सर्वप्रथम यह खबर भी दी थी कि पांडिचेरी के क्रांति-समर में आश्रम का कितना हाथ था। अपनी मृत्यु से दो-एक महीने पहले वह नेफा जाना चाह रहे थे। लेकिन असम की बस-दुर्घटना ने उनका जीवन छीन लिया। उनकी आकस्मिक मौत पर आकाशवाणी और सूचना एवं प्रसारणमंत्री डा. केसकर ने जो संवेदना-संदेश प्रसारित किए, वे नितांत सहज और उन जैसे व्यक्ति के लिए सर्वथा उपयुक्त थे।

बिलकुल गरीब परिवार में पैदा हुए थे वह। छुटपन में ही पिता का साया उठ गया था। फिर मां की ममता भी खो दी और अनाथ जीवन बिताने लगे। सिर्फ एस. एस. एल. सी. (S.S.L.C.) तक पढ़ाई कर सके। धैर्य और लगन ने उन्हें जीवन-पथ पर अग्रसर किया। धन या अहंकार ने उन्हें कभी नहीं ललचाया। मानव-समाज के कोनों में गहराई से झांककर जीवन को तलाशते जाने की साहसिकता ही उनका ध्येय थी।

जिस तरह 'मत्यु के बाद' में यशवंतजी की शेष स्मृतियों की अनुगूंज है, शायद उसी तरह तुंगजी भी मुझ समेत अनेक मित्रों के मन में आते अमिट चिह्न और एक जीवंत बिंब की शक्ल में सुरक्षित रख गए हैं।

आज हम उनसे बोल नहीं सकते हैं, उनकी स्मृति, उनकी आत्मा जैसे हमारे भीतर उनसे बातचीत करती रहती है।

29-1-1960

पुत्तूर, द.क. —**शिवराम कारंत**

एक

जीवन एक लंबे काल तक चलने वाली यात्रा है। उसकी शुरुआत के सात-आठ वर्ष तक हम स्वयं से भी अनजान-अजनबी रहते हैं। वह अबूझ जीवन माता-पिता, छोटे-बड़े भाई और बहुतेरे सगे-संबंधियों के संपर्क में आता है। पराश्रय के बिना वह शैशव विकसित नहीं हो पाता। फिर भी उन सारे शैशव-संदर्भों की स्मृति हमारे भीतर बहुत कम बची रहती है। फिर शैशव बीत चुका होता है और घर या पाठशाला में अपने हमजोलियों के साथ घूमना-खेलना शुरू हो जाता है। तब के मित्रों की याद मन में अधिक बनी रहती है। लेकिन ये स्मृतियां भी तात्कालिक ही होती हैं। विद्यार्थी-जीवन के बाहर आकर जब हम युवावस्था में प्रवेश करते हैं, तब सुकोमल स्मृतियों से भरपूर होते हुए भी, आगे के सांसारिक झंझटों में कदम रखने पर कितने मित्रों की स्मृति रह पाती है! महज एक या दो, अधिक हुआ तो दस-बारह।

अगली दुनिया एक दूसरी ही दुनिया होती है। जीवन के रंगमंच पर एक न्यारी और अपरिचित मित्र-मंडली से हम आ जुड़ते हैं, कुछ लोग हमारे हितैषी और सहायक होते हैं, और कुछ हमें धकियाते हुए चले जाते हैं, लेकिन जीवन में गहरी स्मृति-रेखाएं खींच देने वालों की संख्या सदैव कम होती है। फिर बुढ़ापे में पहुंचने पर पुरानी स्मृतियों का कोष प्रायः चुक जाता है। वृद्धावस्था हमें उन तमाम लोगों से काट देती है, जो कि हमारे समवयस्क नहीं हैं। हमारे सुख या दुख में हिस्सेदार लोगों की संख्या भी तब उंगली पर गिनने लायक रह जाती है। साठ-सत्तर वर्ष की जीवन-यात्रा में जिन लोगों से हमारी मुलाकात हुई, जिनके साथ हम घूमे-फिरे-खेले, दुनियावी कामों और व्यावहारिकता के क्षेत्र में जिनसे संपर्क जुड़ा और टूटा, उन्हें अगर गिना जाये तो संख्या हजारों में बैठेगी। इस अपरिचित परिचय के बावजूद हम एक छोटा और अज्ञात मनुष्य बनकर दुनिया से कूच कर जाते हैं। कोई भाग्यशाली हो, तो उसके दस-बारह मित्र उसके अंत को याद करके 'बेचारा! चल बसा। इस उम्र में मौत के सिवा और क्या होता!' कहेंगे और एक बूंद आंसू गिरा देंगे, या फिर आंसू बहाये बिना अपनी समवेदना प्रकट कर देंगे।

कितनी लंबी यात्रा है यह! जाने कब से शुरू हुई! जाने कैसे-कैसे काम किए, और उनका फल हासिल किया! कितना कमाया, कितना छोड़ा? इस सबका हिसाब लगाया जाए तो सिर्फ घर-बार और कुछ रुपये-पैसे ही अंततः बच रहते हैं। 'चला गया न वह! उसकी मृत्यु से हमारे जीवन में कुछ कमी जैसी आ गई है।' लोगों के मन में ऐसा प्रभाव छोड़कर

जा सकने का भाग्य कितनों को मिल पाता है!

ऐसी है यह जीवन-यात्रा। उस विराट नाटक का एक क्षणिक दृश्य है : गांव-गांव में भटकते रहने की यात्रा। यानी एक वास्तविक यात्रा। बस, गाड़ी या जहाज में हम किसी-न-किसी काम के लिए घूमते ही रहते हैं। अपनी जगहें बदलकर दूसरी जगहों में भी जाते हैं – कार्य की तलाश में, सुख और विलासिता की तलाश में। हम, आप, सब लोग। कुछ घंटों की बस-यात्रा के अलावा, रेलगाड़ी या जहाज में एक-दो बार हम सबने सफर किया ही होगा। उस समय हम बाहर के स्थायी संसार को कुछ भूल जाते हैं। हम तब चलते रहते हैं न! तो हम गाड़ी या जहाज में बैठे हैं, सैकड़ों-हजारों मील यात्रा करने वाले और लोग भी उसमें भरे हैं। गाड़ी या जहाज में सवार हो जाने के बाद उससे उतरने तक वही हमारा घर है। गाड़ी में अगर पहले से लोग ठुंसे हों, तो हम नये चढ़ने वाले उनके लिए मामूली शत्रु की तरह हैं। ऐसे भी कुछ लोग हैं, जो सामने आसन फैलाकर बैठे हुए हमारा चेहरा ताकते रहते हैं। कुछ यात्री दोपहर हो जाने पर भी बिस्तर वैसे ही बिछाए हुए और नींद का बहाना किए हुए लेटे रहते हैं। 'आने वालों को भी थोड़ी जगह दे दें' – ऐसा बहुत कम लोग सोचते हैं। और अगर जगह न हुई, तो देने का कोई सवाल ही नहीं। कई बार घंटों खड़े-खड़े जाना पड़ता है। ऐसी स्थिति में मानसिक उद्विग्नता और उत्तेजना हो आती है। गाड़ी में बैठे मुसाफिरों पर क्रोध आने लगता है, जैसे कि हजारों पशु-पक्षी एक ही जगह एकत्रित कर दिए गए हों। फिर लोगों का शोरगुल भी कानों में गुंगुआता रहता है। किसी मित्र की बारात में जा रहे हों, तो साथियों से अपनी पसंद-नापसंद की बातें करते हुए रेल-यात्रा के सारे कष्ट भुलाए जा सकते हैं। कुछ लोग यात्रा में अपरिचितों से भी बातें करके दो घंटे में ही सारे मुसाफिरों को अपने पड़ोसी बंधु की तरह मानकर मजे में समय काट लेते हैं और एक नमस्कार के साथ उतर जाते हैं। उसके बाद कहां ये और कहां वे!

यायावरी जिनके जीवन का एक अंग बन गई है, उनमें भी कई तरह के लोग होते हैं। इंग्लैंड जैसे देश में रेलगाड़ी से सफर करना कई विचित्रताओं का अनुभव करना है। वहां एक आदमी दूसरे आदमी की जगह पर अपना हक नहीं जताता। जिन्हें जगह मिल जाती है, वे बैठे रहते हैं। दस-दस, बारह-बारह घंटे पास-पास बैठकर वे यात्रा करते हैं। कोई किताब हो तो उसे पढ़ते रहते हैं, अन्यथा मूक प्राणियों की भांति बैठे रहेंगे। 'आप कहां के रहने वाले हैं?', 'कहां जा रहे हैं?', 'क्या काम करते हैं?', 'कितना कमा लेते हैं?', जैसे सवाल वे कभी नहीं पूछते। आप सिर्फ अपने लिए हैं। गाड़ी सफर करने के लिए है, मित्रता बढ़ाने के लिए नहीं। सही हो या गलत, वहां के लोग इसी तरह सोचते हैं।

उत्साह से शुरू करके जी ऊब जाने तक मैंने कई-कई बार गाड़ी और जहाज से यात्राएं की हैं। मैं आपको उन प्रवासों की कहानियां सुनाने नहीं निकला हूं। केवल यात्रा का, प्रवास

का मनोधर्म प्रसंगवश बता रहा हूं। भारी भीड़-भड़क्का मुझे पसंद नहीं है। लोग ज्यादा हों या उनमें बातें ज्यादा हो रही हों, तो मैं चुप्पी साध लेता हूं। मैंने अपने डिब्बे में गरुड़गामी बनकर ठुंसे लोगों को देखा है, भगीरथ तप करते हुए या पूरा शवासन लगाए बैठे हुए लोगों को भी मैंने देखा है। डिब्बे में भीड़ बढ़ जाने से जब सांस लेना भी कठिन हो जाता है, तो मन में कोफ्त होने लगती है कि कब खत्म होगी यह यात्रा! इसीलिए, इधर कुछ वर्षों से इच्छा हुई है कि अधिक पैसे देकर ही सही, जरा आराम से और स्वस्थचित होकर यात्रा करूं। तीसरे क्लास की यात्रा मुझे अनुकूल नहीं बैठती। इंटरमीडिएट क्लास यानी आजकल के दूसरे दर्जे में सैर करना बेहतर है और अपनी जेब के लिए भी अनुकूल है। लेकिन जिस तरह आजादी के बाद देश के मध्यवर्गीय लोग अधम स्थिति में पहुंच गए हैं, दूसरा दर्जा भी कुछ वैसा ही हो गया है। वह सिर्फ पैसे के लिहाज से ऊंचा है, तीसरे दर्जे की धक्का-मुक्की, शोरगुल और हड़बड़ी वहां भी कम नहीं है। इसलिए इच्छा-अनिच्छा का विचार न करके मैं अपनी सुविधा के लिए पहले दर्जे में ही यात्रा करता हूं। किंतु ऐसा भी नहीं है कि मैं जो कुछ चाहता हूं मुझे वहां मिल जाता है। टिकट लेकर पहले ही अपने लिए स्थान आरक्षित करा लेने से बैठने में कोई असुविधा नहीं होती। किसी कोने में पैर लटकाकर या पद्मासन लगाकर किसी भी मनचाही मुद्रा में बैठना मुझे बहुत संतोष देता है लेकिन, कहने की आवश्यकता नहीं कि यात्रा में मिलने वाला सहगामी वर्ग कितना विचित्र होता है। पहले दर्जे का टिकट खरीदते ही वे समझने लगते हैं कि यह हमारा घर है, यहां औरों के लिए जगह नहीं है। चार-पांच बिस्तर, आठ-दस संदूक, फलों के टोकरे, नाश्ते के डिब्बे और बच्चों का कमोड जैसी चीजें ब्रेक-वैन (Brake-van) में भरवा दी जाती हैं, और फिर दिए गए पैसों का बदला लेने के लिए आने वाले ठाकुरों की कोई कमी नहीं रहती। इस अव्वल दर्जे में ऐसे दिमागदार भी होते हैं, जिनके व्यवहार से लगता है जैसे कि वे पूरी गाड़ी खरीद चुके हों! लोग सिर्फ लोग हैं, धन-दौलत से वे देवता कैसे बन सकते हैं? फिर भी उम्मीद रहती है कि वे अधिक समृद्ध संस्कारों के लोग होंगे। ऐसा न भी हो, तो ये लोग तीसरे दर्जे की भीड़ से कहीं अधिक साफ रहते हैं। यात्रा इस वजह से कुछ सुखकर हो जाती है। इसके अतिरिक्त उतनी भयानक भीड़ भी वहां नहीं होती, जिससे यात्रा अधि
ाक सताने वाली नहीं रह जाती। रात को चैन से सोया जा सकता है।

मैं नींद नहीं गंवा सकता। कोई पूछे कि मेरे जीवन का सबसे सुखी समय कौन-सा है, तो मैं तपाक-से कह दूंगा : तमाम सुख-दुख से मुक्त नींद! कहूंगा ही नहीं, मैं इसे बखूबी समझता हूं। लेकिन मेरी नींद की भी एक सीमा है। बहुतेरों की तरह फर्स्ट क्लास का डिब्बा देखते ही मुझे फौरन नींद नहीं आ जाती। चाहता हूं, दिन में न सोऊं, लेकिन नींद आ जाती है तो एक घंटा सो लेता हूं। बाकी समय जागते रहना पड़ता है। तब कोई पुस्तक पढ़ने लगता हूं, अन्यथा यों ही पीठ टिकाए चुपचाप बैठा रहता हूं। प्रवास के इस नाटक

में सामने रंगभूमि पर चहल-पहल करते हुए चरित्रों की बातों और हरकतों को खामोश सुनता रहता हूं — विशेषतया बातचीत के चक्कर में बहुत कम पड़ता हूं। भाग्य से अच्छे मित्र मिल जाएं, तो ऐसा नहीं कि न बोलूं। ऐसे मित्र यदा-कदा मिल भी जाते हैं। यात्रा के मित्रों में से कुछ ऐसे भी स्मृति में बचे हैं, जिन्होंने मेरे मन में एक गरिमामय स्थान प्राप्त कर लिया है।

ऐसे ही एक व्यक्ति की कहानी मैं सुनाने जा रहा हूं। कहूं कि एक प्रवास में आधा दिन मेरे साथ बैठे एक बूढ़े को लेकर यह उपन्यास लिख रहा हूं, तो आपको अचरज भी होगा। यह कहानी मुझे मात्र इसलिए लिखनी पड़ी कि प्रवास-काल में उस व्यक्ति से मिलना हुआ, कारणवश उसमें मेरी आसक्ति बढ़ी और फिर गहन मैत्री में बदल गई। जीवन-यात्रा में वह मेरे स्मृति-पट पर अपने अमिट चिह्न छोड़ गया है, और आसक्ति का अनुमोदन करने वाले दो-तीन स्वजनों और उनकी गृहिणियों को भी वह अपने पीछे छोड़ गया है। उसकी एक डायरी भी मुझे मिली है — और इस सबसे मुझे एक चरित्र को रच सकने का मौका मिल पाया है। कई ऐसे अधूरे दृश्य और चित्र भी इसमें होंगे, जिनके बीच की कड़ियों और अंतरसूत्रों में काफी कटाव और विच्छिन्नता दिखाई देगी। उस समय यदि मैं जान पाता कि उस व्यक्ति की अकेली जिंदगी में इतने सारे अनुभव छिपे होंगे और उन्हें प्रस्तुत कर पाने का मौका मुझे मिलेगा, तो शायद मेरी यह रचना और सजीव बन पड़ती। तब उपन्यास न लिखकर मैं एक जीवन-गाथा लिखता। उनके जीवित रहते मैं उन गुत्थियों और समस्याओं को उनसे पूछ सकता था, जिन्हें कि मैं आज नहीं जानता। उनसे मेरी मित्रता की अवधि ा केवल पांच-छह वर्षों की है — और वह भी वर्ष में एकाध बार मिलकर कुछ समय बातचीत में उपजी हुई मैत्री। अपनी पसंद के व्यक्तियों के साथ मैं जितना बातूनी हो जाता हूं, मेरे मित्र उसकी अपेक्षा बेहद कम बोलने वाले थे। परिचय के प्रारंभिक दिनों में दशमांश बातचीत भी हमारे बीच नहीं होती थी। पांच साल बाद जाकर हम आपस में खुलकर बातें कर पाए। हमारी खतोकिताबत में भी कोई वृद्धि नहीं हुई। उनके घर पर ही उनसे मुलाकात होती और अपने गांव लौट जाने पर मैं उनकी ओर से चुप्पी साध लेता। उन्हें देखने की इच्छा जब कभी जगती, उन्हें लिख देता : "आपके गांव आ रहा हूं, मिलूंगा।" जवाब में वह तुरंत लिखते : "जरूर आइए, मैं जरा भी व्यस्त नहीं हूं। आपकी प्रतीक्षा में रहूंगा।"

हमारे बीच इतना-भर पत्र-व्यवहार था। जीवन के अंतिम दो वर्षों में वह महीने-दो महीने में एक खत मुझे लिख देते थे। मैं भी उत्तर भेज देता था। वह मुझसे बड़े थे, उनके प्रति मुझ में गहरी आस्था थी। मैं छोटा था, अतः मुझे पत्र भेजने की आवश्यकता उन्हें नहीं थी। अपने अनुभवों में वह मुझसे कहीं आगे और परिपक्व थे। मैं अपने अनुभवों में अधकचरा था, इसलिए वह जब भी 'क्यों' और 'कैसा' वाले प्रश्न मुझसे करते, तो मैं

आश्चर्य और असमंजस में पड़ जाता।

उनके पत्रों में इसकी आहट मिलती रहती थी कि सभी मनुष्यों की भांति जीवन की समस्याएं उन्हें भी व्यथित करती थीं। उनके प्रश्न काफी जटिल होते थे, जिनका उत्तर देते हुए मैं और भी ऊहापोह में पड़ जाता और अपने अनुमान के सहारे 'क्या ऐसा हो सकता है या नहीं' अथवा 'यह शायद इस तरह हो'—सरीखी बातें उन्हें लिख देता। इससे अधिक कुछ लिखने की उत्सुकता भी मुझे नहीं हुई। वस्तुतः उनके सवाल बहस के लिए उठाए गए भी नहीं होते थे। उनमें 'मैं ज्यादा जानकार हूं' वाली मुद्रा भी बिलकुल नहीं होती। 'जीवन क्यों है और कैसा है' — जैसे विचारणीय और शाश्वत प्रश्नों का पंडिताऊ तर्कों से कोई संबंध नहीं है। ये प्रामाणिकता और अनुभव से जुड़े हुए प्रश्न हैं, हमारे विश्वासों और आस्थाओं को हिलाकर, झकझोरकर उठाई गई समस्याएं हैं। उनका समाधान अंधश्रद्धा से भी नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में, प्रश्नों को सुलझाने का विश्वास मुझमें कैसे होता? बहुत हुआ तो लिख देता कि "आपकी तरह मुझे भी ऐसा ही संदेह है।"

पाठकों को यह भूमिका भी एक पहेली जैसी लग रही होगी। मेरे मित्र की जिंदगी भी एक पहेली से कम नहीं थी। अपने अंतिम पत्र में उन्होंने मुझे लिखा था : "आप कब बंबई आएंगे? आप हालांकि अभी तीन ही महीने पहले यहां पधारे थे, लेकिन मेरे अधैर्य को क्षमा करेंगे। आपको एक बार और देख पाऊंगा— ऐसा नहीं लगता। जाने क्यों! इसीलिए आग्रह कर रहा हूं कि जितनी जल्दी हो सके, यहां अवश्य आ जाइए। मैंने भी कुछ पागलपन की बातें लिखकर रख छोड़ी हैं, उन्हें अभी तक किसी को नहीं दिखाया है और फिलहाल ऐसी इच्छा भी नहीं है। अपने जीवित रहते मैं उन्हें किसी को दिखाऊंगा नहीं, लेकिन लिखा हुआ बेकार जाए, ऐसा भी नहीं चाह रहा हूं। आपको इसलिए वे सारी रचनाएं सौंपना चाहता हूं; मेरी मृत्यु के बाद आप उन्हें पढ़ेंगे —ऐसी आशा रखता हूं। इससे अधिक कुछ नहीं चाहता।

"एक बात और : हमारे कतिपय पूर्वजों और ऋषियों ने संसार और सृष्टि के बारे में तरह-तरह की धारणाएं व्यक्त करते हुए कहा है कि यही सही है, यही आखिरी सत्य है। आप उन्हें वेद कहें, उपनिषद् कहें, या कहिए परमात्मा ने ही उन्हें कान में फूंक दिया, मुझे इस बारे में हमेशा एक संदेह रहा है। विश्व और सृष्टि के विषय में मैंने भी थोड़ा-बहुत पढ़कर जाना है। समस्त जगत की यह अनंत यात्रा जाने कब से शुरू हुई है, जाने कहां जा रही है! और यात्रा के बहुत समय बाद, राह के एक स्टेशन पर गाड़ी के डिब्बे में चढ़नेवाले किसी यात्री की भांति मनुष्य नामक प्राणी अंदर घुस गया, और फिर उसी तरह उससे उतर भी गया। लेकिन जीवन की यात्रा अभी भी चल रही है और उसका लक्ष्य अभी तक अज्ञात और अविदित है। आगे बेहिसाब दूरी है। ऐसे में अगर कोई छाती ठोंककर यह कहने का दंभ करे कि 'मैंने इसका भेद जान लिया है' तो क्या यह हंसी की बात नहीं?"

इसी तरह की बातों से भरा था उनका पत्र। उनके प्रश्नों ने जैसे समस्त धर्मों और संप्रदायों को जड़ से हिलाकर रख दिया था।

वह एक ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने जीवन को श्रद्धा और प्रामाणिकता के साथ परखा था और यह समझ लिया था कि मैंने जो कुछ जाना है, वह अधूरा सत्य है। उन्होंने चार-पांच विषयों पर दस-पंद्रह पंक्तियां लिखी होंगी, लेकिन यह नामुमकिन है कि वे कोरी गप्पें हों। जब तक मैं जिऊं, तब तक मेरा लिखा हुआ कोई न देखे—ऐसा सोचने वाला वह व्यक्ति प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा के लिए कुछ भी कैसे लिख सकता था? फिर क्यों लिखा? किसके लिए लिखा? उसमें क्या रहा होगा? —ऐसे दसियों सवाल मेरे मन में घुमड़ने लगे। आखिर, जब तक वह जीते रहेंगे, उनके लिखे हुए को पा सकना संभव ही नहीं है। मगर उनका पत्र मुझे विस्मय में डाल गया कि उन्होंने मुझसे ऐसी अपेक्षा क्यों की! मुझे एक ही बात सूझी कि बाहरी जीवन में अतृप्त रहकर वह अब कछुए की भांति अपने हाथ-पांव देह में सिकोड़कर एकाकी जीवन बिता रहे हैं। बाहर भी और भीतर भी। आखिर ऐसा क्या है कि उन्हें अपनी बात पर विश्वास न हो! मुझे लगा, यह 'अपनी बात' शायद औरों में हंसी उत्पन्न करेगी। हो सकता है, उन्होंने ऐसी अपेक्षा यह सोचकर की होगी कि मृत्यु के बाद मुझे लेकर कोई भी कहे, उसकी क्या परवाह!

बंबई मुझे कोई काम नहीं था। बल्कि मैं सोच रहा था कि और तीन-चार महीने बंबई जाने की नौबत न आए। एक बार मन में उत्सुकता भी हुई कि उनसे मिलने बंबई हो आऊं, परंतु उत्सुकता के बराबर क्रियाशीलता मुझमें नहीं थी। उत्सुकता इच्छा में बदले, इच्छा बढ़कर उत्कंठा का रूप ले और मुझे उकसाये, तब कहीं मैं अपनी जगह से हिल पाता हूं। और फिर कई झंझट-झमेले भी सामने थे। उनका सामना करके बंबई पहुंचने की कोई उत्कंठा नहीं हुई। यानी कि उनकी इहलोक-यात्रा समाप्त होने से पहले उनसे मिलना संभव नहीं हो पाया। एक दिन बंबई से तार मिला। उनके एक पड़ोसी ने भेजा था। लिखा था : "आपके भाई बीमार हैं। शीघ्र आइए।" उनके पड़ोसी ने सोचा होगा कि मैं उनका भाई हूं। मेरे मित्र ने ही उन्हें बताया होगा। मैं तुरंत बंबई गया। उनके घर पहुंचने पर देखा कि वह नहीं थे। पड़ोसियों से पता चला कि वह के. ई. एम. अस्पताल में दाखिल कराए गए हैं। दौड़कर वहां भी गया। उन्होंने मुझे देखने की इच्छा की होगी— यह समझकर कि मेरे सिवाय उनका कोई मित्र या सगा-संबंधी नहीं है। मैं उनका कृतज्ञ हूं। लेकिन जो विश्वास उन्होंने मुझ में रख लिया था, उसके योग्य काम करने की योग्यता मुझमें नहीं थी। सचमुच नहीं थी। होती, तो उनका अंतिम पत्र पाने के बाद मैं उनसे मिलने तत्काल बंबई न चला आता?

अब, अस्पताल जाकर ही यह पता लगा सकता था कि वह किस अवस्था में हैं। उनकी बीमारी के बारे में पड़ोसी भी साफ-साफ कुछ नहीं बता सके। उन लोगों को इतनी दिलचस्पी भी नहीं थी। दिलचस्पी लेने का कोई कारण भी तो हो! एक ने कहा, "उन्होंने कागज

का एक टुकड़ा दिखाया था, जिस पर आपका पता लिखा था। तब उन्हें तेज बुखार था। मैंने एक डॉक्टर को बुला भेजा, तो उसने कहा कि इन्हें तुरंत अस्पताल पहुंचाइए। दो-तीन दिनों से वह सोते ही रहे थे। कमरे का दरवाजा बंद था। मैंने ही उसे खोला और उनकी हालत देखी, तो जी बड़ा घबराया। उनमें बोलने की शक्ति भी नहीं रह गई थी बस, अपनी दुर्बल उंगलियों से मेज पर रखा कागज का पुरजा उन्होंने मुझे दिया। उस पर आपका पता था। हमने आपको तार भेज दिया। अब आप आ गए हैं, आप ही संभालिए!"

मैं दंग रह गया। अस्पताल की तरफ दौड़ा। मेरे अस्पताल पहुंचने के कुछ ही देर पहले उनका शव मुर्दाघर में रख दिया गया था।

मेरा आना न आने जैसा हुआ, और वहां रहना भी न रहने के समान। फिर भी खड़ा रहा आधा घंटा। किसी भी तरह की यातना-पीड़ा से मुक्त उनके शांत और सोये हुए बूढ़े चेहरे को देखता हुआ। बहुत सोचने-विचारने का समय अब नहीं था। मुझसे पूछा गया, "आगे की व्यवस्था करनी चाहिए न?" जीवित लोगों की जिम्मेदारी आदमी के मरने के फौरन बाद ही खत्म नहीं हो जाती —यह सोचते हुए बंबई में रहने वाले कुछ मित्र याद हो आए। अस्पताल से बाहर आया और टेलीफोन करके एक घनिष्ठ मित्र को बुला लिया। उनकी सहायता से मित्र का अंतिम संस्कार पूरा कर डाला। पर अब आगे?

मुझे उनके कमरे पर लौटना चाहिए कि नहीं? मैं कौन हूं? वह कौन थे? यह सच है कि मैं उनका मित्र हूं। अभागा भी हूं। किंतु जो कुछ वह छोड़ गए, उस पर मेरा हक क्या है? यही सब सोचता रहा। बंबई वाले मित्र ने कहा, "ऐसी कोई बात नहीं है। वहां जाइए। उनके कमरे में जो सामान है उसे लेकर, उनके भाई-बांधव या संबंधियों का पता लगाकर सामान सौंपने तक की जिम्मेदारी आपकी है। आप पर इतना विश्वास न होता, तो आपका नाम वह सुझाते ही क्यों?" मित्र को लेकर मैं उनके कमरे में गया। पड़ोसियों की अनुमति से उस एक दिन के लिए कमरे और सामान का स्वामी मुझे बनना पड़ा।

वह बंबई के मालाबार हिल पर रहते थे। आप लोग शायद इतना-भर जानते हैं कि मालाबार हिल पर रहने वाले सब अमीर हैं। किंतु अमीर इमारतों की अगल-बगल सैकड़ों झोंपड़ियां भी वहां हैं। एक समय में जो अमीरों के मकान थे, वे अब जीर्ण होकर झोंपड़ियों की भांति दिखाई देते हैं। मेरे मित्र ऐसे ही एक मकान में रहते थे। 'बैक-बे' समुंदर से सटा हुआ एक छोटा-सा पिछवाड़ा है, एक पुराने चाक से लगाकर, 'आउट-हाउस' के नमूने पर वह बनवाया गया था। निचली मंजिल पर दूकानें और पिछले हिस्से में एक गरीब परिवार। वह दुमंजिला मकान काफी बड़ा है। एक छप्पर है, जिसका मुंह समुद्र की ओर है। उसके अगले भाग में दो परिवार रहते थे। इसमें, सीढ़ियों के पास ही मेरे स्वर्गीय मित्र यशवंत राव का निवास था। तीन कमरों का। बंबईवासियों, सो भी मध्य-वर्ग के लोगों के लिए ऐसा निवास दुर्लभ है। उसके कमरे भी काफी बड़े थे—हवादार और रोशनी से भरपूर। उसके

दूसरी तरफ रहने वाले परिवार को ही मैंने पड़ोसी कहा है। वे पारसी थे। परिवार के मालिक जमशेरजी कंट्रैक्टर थे। तार उन्होंने ही मुझे भेजा था।

अब जो मित्र मेरे साथ थे, वह बंबई में कई साल में व्यापार में जुटे हुए थे—माधवराव जी। अंधेरा हो जाने पर हम दोनों यशवंतराव के कमरे में पहुंचे। उन्होंने दरवाजा खोला और बत्ती जलाकर वहां रखी। बेंत की कुर्सी पर बैठ गए। मैंने कहा, "माधवरावजी, आपने बहुत कष्ट उठाया मेरे लिए। अंतिम-संस्कार भी पूरा हो गया। आप काफी थके होंगे। मैं तो आज भोजन करने की स्थिति में नहीं हूं। यहीं सो जाता हूं, फिर सवेरे सारी बातों पर विचार करूंगा।"

"इनसे आपका कोई नाता बैठता है क्या? एक अरसे से आपका परिचय था," माधवरावजी ने पूछा। इतने में किसी के जूतों की आहट हुई। मैंने उनसे कहा, "कल आपको सविस्तार बताऊंगा।"

आनेवाले पड़ोसी कंट्रैक्टर महोदय थे। खुला दरवाजा और रोशनी देखकर मानो आदत के मुताबिक उन्होंने कहा, "हलो ....!" आगे यशवंराव का नाम लेते-लेते वह सहमकर रुक गए। हम दोनों उनके लिए नये और अजनबी थे। हां, एक-दो बार जरूर उन्होंने मुझे देखा था। अब उन्हें मेरा नाम भी मालूम हो गया है। "मैं अस्पताल नहीं आ सका। हम तो हर रोजनामचे के गुलाम हैं! खैर।" कहकर उन्होंने पूछा, "हमारे यशवंतरावजी कैसे हैं?"

मैंने हाथ के संकेत से बताया कि वह चल बसे हैं, फिर कहा, "अपने मित्र की सहायता से अंतिम क्रिया करके अभी-अभी लौटे हैं दादर से।"

"क्या? ... चल बसे! !" बदहवास-सी आवाज में वह लगभग चीख पड़े। फिर हड़बड़ाते हुए अपनी पत्नी को बुलाकर यह सूचना दी। उनका सारा परिवार वहां जमा हो गया। दुखी स्वर में उन्होंने मुझसे पूछा, "आपका नाम कांति है न?"

"यही समझिए।"

"नहीं, फिर भी।"

"कांति।"

"और आप?" उनका इशारा माधवरावजी की ओर था।

"मेरे मित्र, माधवरावजी।"

"कांतिजी," जमशेरजी ने कहा, "आप साल में एक या दो बार यहां आया करते थे, इसलिए आपकी याद है। उनके बारे में आप भली तरह जानते होंगे। वह आपके बिलकुल नजदीक रहे हैं न? मैं भी नजदीक का ही हूं। हम दोनों एक ही समय, एक ही मुहूर्त पर इस मकान में आए थे। तब लड़ाई के डर से बंबई शहर खाली हो गया था। इसलिए यह मकान इतने कम किराये पर मिल गया। यशवंतरावजी बहत कम बोलनेवाले आदमी थे।

मेरे बच्चे तो उन्हें 'दादा' कहके पुकारते थे। मेरी पत्नी को भी उनके प्रति बड़ी श्रद्धा रही है। बच्चों को छोड़कर, वह सभी से बहुत कम बोलते थे। जब कभी मेरे बच्चे उनसे कुछ पूछते या कुछ मांग बैठते, तो वह उनके चित्र खींचते और कहानियां सुनाते। इतने बड़े कलाकार तो वह नहीं थे; खैर, वह अलग बात है...लेकिन वह एक विरक्त आदमी थे। जितने सरल, उतने ही बुद्धिमान भी। उनकी उम्र के लिहाज से वह बात कह रहा हूं, ऐसा न समझें। उनके जीवन में, उनकी सरलता में और उनके चिंतनशील चेहरे पर एक अद्भुत चमक दिखाई देती थी। है न?"

"सचमुच!" मैंने जवाब दिया।

"कभी-कभी वह मुझसे बातें करते थे, लेकिन नपी-तुली। उनमें जीवन की मिठास होती थी। मामूली और फालतू बातें तो वह कभी करते ही नहीं थे। सचमुच उनका जीवन महान था। आपको वह कैसे लगते थे?...मैंने तो सोचा भी नहीं था कि इतनी जल्दी हमसे बिछुड़ जाएंगे! परसों के. ई. एम. जाकर पूछताछ कर आया था। पता चला कि शायद सेरिब्रल इनर्शिया है। अलावा इसके, मैं जिस डाक्टर को बुला लाया था, उसे भी शायद उनके बचने का भरोसा नहीं था।...नसीब की बात है। मेज पर पुरजे पर 'विल यू कांटैक्ट दिस फ्रेंड फॉर मी?' लिखा था। सो आपको तार भेजा।"

"यह आपकी कृपा है।" मैंने कहा।

"उनके बिना यह घर कितना सूना और मनहूस लग रहा है! मुसीबत के दिनों में वह मुझे कैसे धीरज बंधाते रहे थे! मेरी मदद करते रहे। एक बार, जाने कैसे उन्हें पता चल गया कि हमें पैसों की तंगी है। खुद आकर बोले, 'कहिए, कुछ समय के लिए जरूरी हो तो मैं कुछ रुपये दे सकता हूं।' और एक हजार रुपये का चेक मुझे दे दिया। मैं नहीं समझता था कि उनके पास इतना पैसा होगा। अपने परिवार के बारे में बहुत पूछने पर भी वह खामोश रहते थे। हमारा खयाल था कि उनके लड़के बड़े होंगे, कहीं दूर कमाते होंगे और खर्चे के लिए उन्हें रुपया भेजते होंगे। उस दिन बिना मांगे उन्होंने इतनी बड़ी रकम दे दी। बाद में मैंने रुपये उन्हें लौटा दिए, पर उस दिन हमारी इज्जत बच गई।...दो-तीन महीने में एक बार वह महाबलेश्वर, पूना, बोर्डी वगैरह जाया करते थे। फोटो खींचने। तब यह घर कितना सूना लगता था! वह यहां थे तो लगता था, जैसे गुलाब खिले हों।"

उनकी बातें पूरी हो गईं। मैंने माधवरावजी को विदा किया। कंट्रैक्टर महोदय "अभी आता हूं" कहकर घर चले गए। वहां भी वह यशवंतरावजी के बारे में बोल रहे थे। उनकी पत्नी और दो छोटे बच्चों के रोने की लगातार अवाजें आ रही थीं। मुझे कुछ भी नहीं सूझ रहा था। 'मैं कहां हूं?' 'क्यों आया?', 'आगे क्या करूंगा?'—दिमाग में सिर्फ सवाल थे, जवाब नहीं। जिस कुर्सी पर बैठा था, उसी पर ऊंघता रहा। मुझे पता ही नहीं चला कि

जमशेर जी कब मेरे सामने आकर खड़े हो गए। बोले, "आपको थकान लगी होगी, सो जाइए न...। लेकिन भोजन?...दादा तो उनके बीमार पड़ने के आठ दिन पहले ही झगड़कर चला गया। पांच वर्ष उनके साथ साये की तरह रहा। एक दिन कर्ज मांगने आया, लेकिन उन्होंने इनकार कर दिया, तो वह बोला, 'क्या आप मरते समय यह धन साथ ले जाएंगे?' बाप रे! इतनी बेईमानी, इतनी बेवफाई! खाना-कपड़ा वगैरह के अलावा चालीस रुपये से ज्यादा तनख्वाह उसे देते रहे होंगे। तब भी वह खुश नहीं था!"

जमशेरजी बोलते रहे थे, "उसकी मुहंजोरी देखकर ही यशवंतरावजी ने कहा था, 'दादा, मैं नहीं जानता, मरते समय क्या होता है। मैं अपना पैसा ही नहीं, अपनी लाश भी छोड़ जाता हूं।...ऐसी बात तुम्हारे मुंह से निकलनी ही नहीं चाहिए थी। तुमने उस दिन मेज से सैकड़ों रुपये निकाले थे और फिर साफ मुकरकर जाने किस-किस की कसमें खाने लगे थे! तभी मैं समझ गया था कि तुम मनुष्य नहीं हो। तब से तुम्हारी पकायी रोटी मेरे गले नहीं उतरी। फिर भी मैंने तुमसे कभी जाने के लिए नहीं कहा। लेकिन देखो, अब यह कहने का वक्त आ गया है कि तुम चले जाओ।' बहुत दुखी होकर उन्होंने दादा से कहा, 'दादा, पैसे आते हैं, जाते हैं। मैंने कमाए हैं, खोए हैं। पर खोया हुआ विश्वास फिर से पाना कठिन है।' यह सुनकर दादा बोला, 'किसको चाहिए आपका विश्वास? इस बूढ़े को पैसे का घमंड हो गया है!' दादा जब गालियां देने लगा तो मेरी पत्नी ने आकर उसे धमकाया और बाहर भगा दिया। उसके बाद से वह खुद ही स्टोव पर चाय और टोस्ट बना लेते थे।"

जमशेरजी की पत्नी ने बच्चों के हाथ मेरे लिए कुछ दूध, ब्रेड, फल और मक्खन भेज दिया। उस समय मुझे लग रहा था, जैसे यशवंतरावजी मेरे सामने आ खड़े हो गए हों। जैसे वह दादा को समझा रहे हों! मैंने खाने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया, तो जमशेर जी बोले, "इन्हें लीजिए!" मैंने कहा, "नहीं, भूख नहीं है।" मुझे सचमुच भूख नहीं थी।

"सुबह से आपने कुछ नहीं लिया होगा...!"

"हां, कल से..."

"ओह! तब तो आपको जरूर लेना चाहिए! भाई की याद में बेजार होना स्वाभाविक है। मगर आप तो जानते ही हैं, मौत से कोई बच सकता है क्या?"

"मौत का कोई उतना दुख भी नहीं है। मगर एक महीने पहले उन्होंने मुझे आने के लिए लिखा था। मुझे उस वक्त यहां आना था। बहुत सारी बातें उनसे जाननी थीं।"

"सच, वह कितने बड़े थे! हम दस बातें बोलें, तो वह एक बात बोलते थे। मैं इतना निकट था, फिर भी बहुत थोड़ी बात करते थे।...अच्छा, आपके क्या लगते थे।?"

इस प्रश्न का तुरंत जवाब देने की हिम्मत मुझे नहीं हुई। कह सकता था कि उनका मित्र हूं। लेकिन फिर उनकी संपत्ति को छू तक नहीं सकता था। मुझे उसकी जरूरत भी

नहीं थी, किंतु यह जानने का प्रयास तो करना ही था कि मुझे उन्होंने इस तरह का पत्र क्यों लिखा? उनके कागजात देखकर उनके रिश्तेदारों का पता तो मुझे लगाना ही था। इसलिए जमशेरजी के प्रश्न का जवाब देने में मैं कुछ हिचकिचाया।

उन्होंने पूछा, "लगता है, आपसे उनका कोई दूर का रिश्ता था?"

"हां।" मैंने जवाब दिया। मेरी आंखों में बेहद थकान और नींद थी। जमशेरजी खाने के लिए जोर दे रहे थे। खाना शुरू किया, पर पता नहीं क्या खाया और क्या नहीं। थकान, नींद, मौत, दुख और स्मृति—सब कुछ एक साथ मस्तिष्क में बजबजा रहा था। शायद थोड़ा-सा दूध मैंने पिया होगा। जमशेरजी चले गए, तो दरवाजा बंद किया, बत्ती बुझायी और पास में पड़े एक पुराने सोफे पर पैर पसारकर लेट गया। वह समूची रात सपनों से भरी हुई थी। जैसे मैं बीमार पड़ा हूं और यशवंतराव मेरे माथे पर हाथ रखे बैठे हैं। जैसे मैं कह रहा हूं कि मुझे मरने में डर लग रहा है और वह धीरज बंधा रहे हैं, "डरने की बात क्या है! यहां का काम तो पूरा हो गया न? तुम जिस काम के लिए आए थे, वह तो हो गया। समाप्ति पर संतोष करो!"

मैंने पूछा,"और कल?"

उन्होंने कहा,"कल का काम आगे बढ़ाना औरों के जिम्मे है।"

"फिर अपना क्या होगा?"

'नहीं रहोगे।"

"फिर? पुनर्जन्म?"

"कौन जाने!"

"नहीं होगा?"

"उसकी चिंता तुम्हें क्यों? तुम सिर्फ आज के हो, कल के भी नहीं थे, कल के भी नहीं रहोगे!"

बस, उस कल्पना-स्थिति में इतनी-सी बातें हुई होंगी कि मेरी आंख लग गई। सवेरे धूप खिड़की के अंदर आई, तो उठा। सारी थकान दूर हो गई थी। मुझमें जैसे एक नया जीवन शुरू हुआ हो। यशवंतराव की स्मृति मात्र से ही मृत्यु के दुख की थकान मिट गई-सी लगती थी। हम एक नाटक देखते हैं। देखते हुए हम उसके चरित्रों को आत्मसात करते हैं, उनसे अपने को जुड़ा हुआ पाते हैं। नाटक की समाप्ति पर घर के लिए रवाना होते हैं, तब केवल उसकी स्मृति बच रहती है। वह स्मृति जितनी अधिक मीठी या कड़वी होगी, उतने ही अधिक समय तक हम में सुरक्षित रहेगी।

यशवंतरावजी की स्मृति मेरे लिए अत्यंत प्रिय है। उसका माधुर्य अविस्मरणीय है। अपने स्वार्थ और उपयोग के लिए मैं अब उन्हें दोबारा नहीं पा सकता। फिर भी मेरे जीवन में जो यादें उन्होंने अंकित कर दी हैं, वे हमेशा मेरे भीतर जीवित हैं। उन्हें मैं बचाकर रख

सकता हूं। और भुला भी दे सकता हूं। 'व्यक्ति' चिह्न का बना रहना या मिट जाना उसके चरित्र पर निर्भर करता है। मुझे लगा, यदि कोई चरित्र अपनी गहन और अमिट स्मृतियों के बल पर किसी के हृदय में जीवित-स्पंदित रहे, और बढ़ता रहे, तो यही पुनर्जन्म है।

यशवंतरावजी को मैंने आठ-दस बार देखा था। वह जो चिह्न छोड़ गए हैं, अब उन्हें देखने निकला हूं। मुझे लगा कि मैं यदि उन्हें अच्छी तरह जानता हूं, तो उनके पग-चिह्न ही उनकी जीवन-यात्रा को मेरे सामने खोल देंगे।

उठकर अंगड़ाई ली। मुंह धोया। आईने के सामने खड़ा हुआ। मुंह पोंछते हुए सामने की दीवार पर दृष्टि गई, तो उस आईने के इधर-उधर आठ-दस तसवीरें दिखाई दीं। ये तसवीरें यशवंतरावजी ने खींची थीं। चित्रकला से उन्हें बेहद लगाव था। कला का अध्ययन किए बिना, उसकी तकनीक जाने बिना, समय बिताने के लिए फोटोग्राफी को उन्होंने अपना शौक बना लिया था। उन चित्रों को मैंने कई बार देखा है। यशवंतराव कोई महान कलाकार नहीं थे, फिर भी उन्होंने मन के बिंबों को रंग देकर अंकित करने, लिखने और खींचने का प्रयत्न किया था। सोचा होगा, इसमें कोई हर्ज भी तो नहीं है।

इस बार उन्हीं चित्रों को देखने पर—यद्यपि उनमें कोई शिल्प की खूबसूरती नहीं दिखाई गई थी—मुझे शंका हुई कि यशवंतरावजी ने महज समय गंवाने के लिए इन्हें खींचा होगा, नहीं तो...। चित्रकला उनकी भाषा नहीं बनी थी—यह तो स्पष्ट ही है। लेकिन एक ही भाषा का जानकार विदेश जाने पर हाथ-मुंह के इशारे से 'मुझे फलां जगह जाना है, रास्ता बता दीजिए' कहने का प्रयास करे तो इसमें क्या ऐतराज हो सकता है?

तो मुझमें कुतूहल जागा—अपने चित्रों में उन्होंने क्या कहना चाहा है? आधा घंटा देखते रहने के बाद भी मुझे ऐसा नहीं लगा कि वे कुछ सार्थक चित्र हैं। कोई आशय उनसे उजागर नहीं हुआ।

मैंने सोचा, किसी होटल में जाकर नाश्ता कर आऊं। फिर उनकी जायदाद और चीजों से परिचित हो लूं ; और जितनी जल्दी हो सके, अपने गांव लौट जाऊं।

दो

प्रतीक्षा न करने के बावजूद, उस दिन सुबह ही मेरे मित्र माधवरावजी अपने काम से छुट्टी पाकर सीधे मेरे पास चले आए थे—जो कुछ सहायता उनसे बन सकती थी वह देने के लिए दो अंधों की जोड़ी-सा हमारा नाता बन गया था। पड़ोसी जमशेरजी सुबह ही आए और नमस्कार करके चले गए। हम दोनों ने दरवाजा बंद कर लिया और अगले कार्य के बारे में सोचने लगे। सबसे पहले मैंने माधवरावजी को यशवंतरावजी से अपने परिचय का

इतिहास सुनाया और साथ ही इस बात पर अपनी शंका प्रकट की कि यशवंतरावजी ने मुझसे कार्य की सिद्धि चाही थी या सहायता? "सारी बातें उनके कागजात आदि देख-पढ़ लेने के बाद ही समझ में आ सकेंगी।" माधवरावजी ने सुझाया और हमने काम शुरू कर दिया। उस कमरे के सारे ट्रंक किताबों से भरे हुए थे। साथ ही, साफ लिखाई में दो-एक हिसाब के खाते भी थे। बैंक की पासबुक भी थी। पासबुक देखने से पता लगा कि केवल पांच दिन पहले पंद्रह हजार रुपये निकाले गए हैं। और शेष जमा रकम डेढ़ हजार रुपये के करीब है। निकाली गई रकम का क्या हुआ होगा? वह तो कमरे में ही होनी चाहिए। कहीं नौकर दादा तो चुराकर फरार नहीं हो गया? एक बार वह सौ रुपया चुराकर फरार हो गया था। मन में संदेह उठने लगा। संदेह क्या, घबराहट होने लगी। अगर सचमुच ऐसा हुआ है, तो पुलिस को इसकी खबर की जानी चाहिए। जब तक बात साफ नहीं हो जाती बंबई में रहकर ही मुझे घुटना होगा। मैं चिंतित होने लगा। अपनी इस छटपटाहट को दूर करने की गरज से मैं पड़ोसी कंट्रैक्टर की पत्नी के पास गया और पूछा, "दादा ने काम कब छोड़ दिया था?" पता चला कि रकम निकालने से पहले ही दादा काम छोड़ चुका था। तव भी मेरा संदेह बना रहा। 'कहीं उनकी मृत्यु के बाद तो वह आकर नहीं चला गया? ईर्ष्या के मारे खाने में विष तो नहीं मिला दिया गया था?' तरह-तरह के संशय दिमाग में उमड़ने लगे।

इसके बाद हमने यह खोज शुरू की कि यशवंतरावजी ने किन-किन लोगों के साथ लिखा-पढ़ी की थी। कुछ पत्र तो मिल गए, लेकिन बाकी का कुछ पता नहीं चला। उन्होंने तो मुझे लिखा था कि काफी लिखा-पढ़ी की है। परंतु कुछ भी पता नहीं लग पाया। कमरे में पड़े कागज-पत्रों की हमने ऊब जाने की हद तक छान-बीन की। आखिरकार एक बात सूझी कि दीवार पर टंगे उनके कुर्ते की तलाशी ली जाए। तलाशी लेने पर कुर्ते की जेब में एक चैकबुक मिली और साथ में डाकखाने की रसीद भी। रसीद से मालूम हुआ कि उन्होंने मेरे नाम डाकखाने से एक रजिस्ट्री भेजी है। उसके अलावा जेब में एक पर्स भी था, जिसमें डेढ़ सौ रुपये पड़े थे। लेकिन इस बात का अनुमान तक नहीं लग पाया कि निकाली गई उस बड़ी रकम का क्या हुआ। अगर वह चोरी चली गई है तो डेढ़ सौ रुपये भी यहां नहीं होने चाहिए थे। फिर सोचा कि जब तक गांव जाकर रजिस्ट्री का पता नहीं लगा लेता, दादा पर शक करना व्यर्थ है।

लेकिन केवल सोचने से अगला मार्ग सूझने वाला नहीं था। हम दोनों ने मिलकर कमरे के तमाम सामान की सूची तैयार की। चित्रों को बटोरकर एक ट्रंक में बंद किया। उन पुस्तकों को भी देखा जो वे पढ़ा करते थे। अधिकतर पुस्तकें संप्रदाय, धर्म और दर्शन से संबंधित थीं। पुस्तकों में यहां-वहां नीली और लाल पेंसिलों के निशान लगे थे। कहीं-कहीं प्रश्नवाचक और विस्मयबोधक चिन्हों के जरिये शंकाएं भी व्यक्त की गई थीं। लेकिन उस

समय मैं यह जानने के लिए आतुर नहीं था कि किन विषयों ने उन्हें उद्वेलित किया था। मैं तो मित्र के निधन से, उनके धन के नष्ट होने की व्याकुलता से शोकाकुल था। कमरे में शेष सभी चीजों को बांधने के बाद, हमने संदूक में मिले कागज-पत्रों के टुकड़ों को शुरू से अंत तक पढ़ना शुरू किया। उनमें जिस किसी का भी पता मिलता, उसके बारे में हमारे मन में कुतूहल उत्पन्न होता। हम सोचते, यशवंतरायजी से उन लोगों का क्या रिश्ता रहा होगा। उनसे कई लोगों ने रुपये-पैसे की याचना की थी। सहायता के लिए कई लोगों ने कृतज्ञता भी प्रकट की थी। पत्रों के लिखने वाले अलग-अलग गांवों के लोग थे। ऐसा लगता था कि यशवंतरायजी पैसा निकालते और खर्च करते रहते थे। बहुतों को प्रतिमास, छमाही तौर पर कुछ निश्चित राशि भी वह भेजा करते थे। पूरे खर्च को हिसाब में ले लेने के बाद हमें ज्ञात हुआ कि पंद्रह हजार, डेढ़ हजार और डेढ़ सौ रुपये की राशियां फिर भी शेष रह गई होंगी।

वहां मिले कागजात में जिन-जिन लोगों के पते हमें मिले, उनकी एक सूची मैंने तैयार की। कई पत्रों में उनकी टिप्पणी अंकित थी—'योग्य नहीं है।' 'दान-स्वीकार के लिए पात्रता चाहिए न?', 'कितनी बार मांगना?', 'अपने पैरों पर कब खड़े होंगे?' आदि इस तरह के कई वाक्य उनके पत्रों में अंकित थे। मकान-मालिक के हिसाब को देखने से मालूम होता था कि पूरे साल का किराया उसे मिल चुका है...यानी तीन महीने के किराये के भुगतान के अलावा, नौ महीने का किराया पेशगी बचा था। मुझे और मेरे मित्र को एक-दो दिन इसी काम में लगाने पड़े। इस बीच मैंने अपने घर एक तार भेज दिया था, "बंबई से मेरे नाम कोई रजिस्ट्री पत्र या कागज आया हो, तो उसकी सूचना मुझे तार से देना।" जवाब आने तक मेरा काम था मित्र के दैनिक जीवन के बारे में जमशेर दंपति से बातचीत, फुर्सत मिलने पर माधवरावजी के घर जाकर आगे की योजना के बारे में परामर्श; उनके घर से भोजन करके लौटना और यशवंतरायजी के कमरे में पड़े सोफे पर लेटकर करवटें बदलते रहना, ऊब जाने पर और पढ़ने का धैर्य न होने के कारण उनके संदूक खोलकर उनके द्वारा खींचे गए चित्रों पर दृष्टि गड़ाये रखना। बस ये ही काम थे तब। मैं पहले ही कह चुका हूं कि वह व्यावसायिक चित्रकार नहीं थे। उन्होंने केनवास और आइल कलर जैसी कीमती वस्तुओं का कभी उपयोग नहीं किया था। पेंसिल, क्रयोन, पेस्टल, वाटरकलर जैसी चीजों का उपयोग कर वह चित्र बनाया करते थे। ऐसा कोई विषय नहीं था, जिसे उन्होंने चित्रांकित न किया हो। इस तरह के सैकड़ों कागज के टुकड़े थे, जिनमें से आठ-दस ही मुझे आकर्षित कर पाए। न जाने क्यों, ऐसा नहीं था कि कुशल और अद्भुत चित्रकारी के कारण उन चित्रों की ओर मेरा मन आकर्षित हुआ हो। उनमें अंतिम कलाकार की स्वाभाविक तेजस्विता को समझ पाना बहुत कठिन था। शास्त्रीय समझ के अभाव में रंग तथा रेखाओं की मोहकता समाप्त हो जाती है। चित्र की विषयवस्तु के बारे में कोई संकेत

मिले बिना उन चित्रों में उन्होंने अपना नाम 'यशवंत' लिखकर चित्रों का विषय भी लिख दिया था, ऐसे चित्रों को चुनकर मैंने बांधा और अलग रख दिया।

बम्बई आने के छह या सात दिन बाद मेरे पास पत्नी का एक तार आया—"ड्राफ्ट, विल, मैन्युस्क्रिप्ट्स रिसीव्ड।" तार ने मुझे और आश्चर्य में डाल दिया। विल क्या? मुझे पैसा भेजने का क्या कारण है? आकस्मिक परिचय मात्र से इतने अधिक भरोसे के साथ मुझे पैसा भेजने की क्या वजह है? जो हो, रुपये तो चोरी नहीं गए —यह मेरे लिए एक संतोषजनक बात थी। सोचा, घर लौटने पर मालूम हो जाएगा कि उसे किस तक पहुंचाना है। और यह भी तो अचरज की ही बात थी कि यशवंतरायजी ने यह कैसे जान लिया कि इतनी जल्दी वह इस दुनिया से चल बसेंगे। मुझे लिखे गए एक पत्र में यह बात थी न? और यह जो व्यवस्था करके वह छोड़ गए हैं, तो यह तो पूरे होश में ही हुई है। मानो वह जानकर ही यह कर गए थे कि अब जीवन-यात्रा समाप्त होने वाली है। हो सकता है, उन पर अचानक मलेरिया का आक्रमण हुआ हो। बिस्तर पकड़ने के बाद और बुखार में तो वह इतनी सारी बातें नहीं कर सकते थे। खुद तो आग में वह कूद नहीं सकते; मुझे ये सब वह नहीं भेज सकते। या उनको जो बीमारी लगी, हो सकता है वह 'सेरेब्रल मलेरिया' हो। डाक्टरों ने जो निदान किया हो, वह गलत हो। बुखार तेज होने से पहले ही उन्हें अपनी बीमारी के अनारोग्य लक्षण दिखायी पड़े हों... इस प्रकार मैं अटकलें लगाने लगा। इसके बाद घर के मालिक से सारी बातें करके और उनकी सारी जायदाद और वस्तुओं का स्वयं अधिकारी होने की कल्पना में डूबा हुआ मैं बंबई से रवाना हुआ।

जब तक गांव पहुंचकर अपने नाम आए कागज-पत्रों को मैंने देख नहीं लिया, मैं जैसे होशोहवास ही खो बैठा था। घड़ी-घड़ी मन में यशवंतरायजी के जीवन की कड़ियों को जोड़ता, उनके द्वारा मुझे सौंपी गई जिम्मेदारी क्या होगी, कैसी होगी, यह अनुमान करता हुआ मैं बंबई से मंगूकर जाने वाले जहाज में जा बैठा। उसमें कोई 500 लोग सवार थे, लेकिन केवल मैं ही एकाकी दिखाई पड़ता था। नीले समुद्र में तैरता हुआ वह जहाज जितना एकाकी लगता था, उतना ही उस जन-समुद्र में मैं भी था। दो दिन इस तरह बीत गए। तीसरे दिन जहाज मंगूकर बंदरगाह पहुंचा। वहां से घर पहुंचने के लिए दो घंटे का रास्ता और तय करना था, सामान से भरे जिन ट्रंकों को मैं साथ लाया था, उन्हें झटपट कुलियों के सिर पर लादकर बाहर लाया और उसके बाद घर के चबूतरे पर उन्हें उतरवाकर बैठने तक मेरी हालत एक भूले-भटके यात्री की-सी हो गई थी। यशवंतरायजी के सिवा और कोई चीज दिखाई ही नहीं दे रही थी।

बंबई से लौट आया। बैठा, नहाया, नाश्ता किया और यात्रा की थकान से मुक्ति पाने के बाद पत्र-बंडल को मंगा लिया। कागज-पत्रों का जो बंडल यशवंतरायजी ने भेजा था, वह बहुत बड़ा नहीं था। कहें कि उनका रोजनामचा था, एक पुस्तक थी... एक सामान्य

पुस्तक, जिसमें उन्होंने अपने मनोभावों को अपनी नपे-तुले वाक्यों वाली शैली में लिख छोड़ा था। पुस्तक काफी पुरानी थी। ऐसा लगता था कि पिछले आठ-दस वर्षों के जीवन-अनुभव बिना किसी निश्चित लक्ष्य के उन्होंने पुस्तक में लिख दिए हैं। फुरसत में ही लेख को ठीक से पढ़ा जा सकता था। हां, साथ में एक पत्र भी था, जिसमें मुझे संबोधित करते हुए काफी बातें लिखी हुई थीं। साथ में बैंक से लिया गया पंद्रह हजार रुपयों का एक ड्राफ्ट भी था। ड्राफ्ट को देखने के बाद मुझे यह साफ मालूम हो गया कि दादा पर मेरा संदेह निराधार था। दूसरे, इतनी बड़ी रकम की बात! इतने अधिक विश्वास के साथ और इतनी दूर से यह ड्राफ्ट मेरे नाम क्यों भेजा गया? इस जिम्मेदारी को कैसे निभाऊं? यह समस्या उनका पत्र पढ़ने के बाद भी वैसी बनी रही। पत्र के शुरू में ही लिखा था—"यह ड्राफ्ट आप के लिए नहीं भेजा गया है। अब मैं बहुत दिन जीने वाला नहीं हूं, ऐसा संदेह मेरे मन में उत्पन्न हुआ, और यदि यह संदेह सच निकले, तो आप ही मैं हूं, यह समझकर यह रकम आपके नाम खर्च करने के लिए भेजी गई है। यह कार्य आसान नहीं है, यह मैं जानता हूं। यदि मेरा संदेह, या भय कहिए, सच निकले तो यह रकम मेरे नाम पर आप रख सकते हैं। वैसे मेरा संदेह सच होने की संभावना ही अधिक है। तब मैं तो रहूंगा नहीं, लेकिन इतना चाहता हूं कि यह राशि किसी अच्छे कार्य में इस्तेमाल हो। दान के पात्र कुछ व्यक्ति होंगे ही। आप को जैसा उचित जान पड़े, वैसे खर्च कीजिए। उसमें से कुछ धन मुझ पर आश्रित तीन-चार लोगों को प्रतिमास प्रतिव्यक्ति पच्चीस रुपये के हिसाब से दें, मूलधन में से या सूद में से। यह मदद उन्हें मिलती रहे, बस। मैं अब तक उन्हें थोड़ी-बहुत मदद देता रहा हूं।"

इतना लिखने के बाद उन लोगों के पते भी उन्होंने मुझे दिए थे। पत्र का अगला भाग काफी विस्तार से लिखा गया था। केवल उसका सारांश ही आपके सामने पेश कर रहा हूं—

"मैं काफी दिनों से चाह रहा था कि इस विषय पर आपसे चर्चा करूं। आपको क्यों तकलीफ दूं, इस ख्याल से ही जब आप यहां आए थे, मैं आपसे इस बारे में बात न कर सका। परसों, एकाएक मेरे मन में, जाने क्यों यह भाव आया कि मैं बहुत समय तक जी नहीं सकूंगा। बहुत समय ही नहीं, बहुत दिन तक भी नहीं। ऐसा महसूस हुआ कि बहुत थोड़े दिन रह गए हैं। मृत्यु का भय तो मुझे नहीं है, लेकिन एक बात मुझे सता रही है, वह यह कि मेरी जिंदगी से किसे क्या लाभ हो पाया? यह एक बात बहुत सता रही है, कि जितना मैंने जिंदगी में लिया है, उससे कम मेरा दिया नहीं होना चाहिए। बार-बार सता रहा है यह भाव। इसलिए नहीं कि यह धन से संबंधित है, यह तो आदमी के जीवन का हिसाब है। आदमी समाज का ऋण ढोता चला आया है। उसी के ऋण से वह बढ़ता है। जो ऋण उसने लिया है, मरते समय तक वह चुक जाए तो उसका जन्म सार्थक है। नहीं

तो उसके जन्म से समाज को हानि ही होती है। यही मेरी भावना है। धन-संपत्ति इस दृष्टि से नगण्य हैं, लेकिन ये जीविका के लिए जरूरी चीजें भी तो हैं ही।

"मेरा बचपन यल्लापुर तहसील के एक देहात में बीता। मैं तनिक धनी परिवार में ही पैदा हुआ, शिक्षा पाई। बड़ा हुआ। किशोरावस्था में ही पुरखों की संपत्ति का हकदार बना। दूसरों का दुख मुझसे देखा नहीं जाता। मुझमें अनुकंपा की भावना अधिक है। उस समय जो भी रोता आया, आंसू भरके आया, उसको अंजुली भर-भरके दिया। तब मेरे बहनोई, मामा आदि सगे-संबंधी चेतावनी दिया करते थे। उन्होंने कहा भी था,'तुम बड़े खर्चीले हो।' ठीक भी है, मैं खूब खर्च करता था। लोकज्ञान के बिना, स्वयं न कमाए गए धन को औरों को खुलकर देने का हमें क्या अधिकार है? कुछ समय के बाद यह ज्ञान मुझे हुआ। जो कुछ पास में था, उसे खो देने के बाद, सो भी कुछ मुश्किल में पड़ने के बाद, अक्ल ठिकाने लगी। एक प्रतिक्रिया यह हुई कि मुझे किसी पर विश्वास नहीं करना चाहिए। मन में इतनी कटुता उत्पन्न हुई कि मानव-समाज पर से ही विश्वास उठने लगा।

"इस प्रकार यह कहने में कोई हर्ज नहीं कि पच्चीस वर्षों तक मेरा जीवन विचार-शून्य उतावली में ही व्यतीत हुआ। इस बीच मेरा विवाह हो चुका था। मैं सोलह आने गृहस्थ बनकर एक बच्चे का पिता भी बन गया। उसके बाद मेरी माली हालत लगातार बिगड़ती चली गई। कर्ज भी लेने लगा और चिंतित रहने लगा। मैं इस कटु सत्य को जान गया कि जब तक मकरंद रहता है, तभी तक भ्रमर भी पुष्प से चिपका रहता है। तो भी मैंने धैर्य नहीं छोड़ा; मेरे पास पैतृक संपत्ति है; कर्ज पर लगाई हुई जायदाद अब भी बची है। फिर ऐसा भी लगा कि खाली हाथ पैदा होकर फलने-फूलने वाले लोग संसार में नहीं हैं क्या? और तब मैंने अपने जीवन की दिशा बदल दी। मेरे मामा के घर के नजदीक कुमटा नामक एक बड़ा गांव है, मैं वहीं डेरा डालकर रहने लगा। एक व्यापारी से मिलकर मैंने जीवन का नया अध्याय शुरू किया। आरंभ में यह जीवन कष्टकारी रहा, तो भी अपनी मेहनत के फलस्वरूप, या कहिए, अनुकूल परिस्थितियों के कारण मैंने काफी धन कमाया। जितना खोया था, उससे भी ज्यादा। परंतु इस कामयाबी से जिस तरह की खुशी होनी चाहिए थी, वह मुझे नहीं हुई। वह कामयाबी तो केवल पैसे से रिश्ता रखने वाली थी। मुझे ऐसा लगता है कि जन-जीवन के प्रति जो अविश्वास, जो कड़वापन मैंने अपने में भर लिया था, उसी के कारण मैं इतनी संपत्ति अर्जित कर सका। जहां धन है, वहां मोह है, दुराशा है, मत्सर है, कटुता है। उसी के कारण पत्नी-पुत्र-भाभी सभी मेरे दुश्मन जैसे हो गए। यह सच है कि मैं लोभी हो चला था। इस अध्याय को समाप्त करने के विचार से, जो संपत्ति मुझे पुरखों से प्राप्त हुई थी, उसमें कुछ और जोड़कर मैंने उसे पत्नी-पुत्रों के हवाले किया और एक दिन गांव छोड़कर अदृश्य हो गया। आपने जब बंबई में मुझे देखा था, तो मैं उस नगर में एक विचित्र वानप्रस्थी स्थिति में रह रहा था। कहा जाता है कि प्राचीन काल

में गृहस्थ लोग वानप्रस्थ के लिए अरण्य में चले जाते थे। मैं वैसा अरण्य न पाकर बंबई जैसे जन-निविड़ में आ बसा और अज्ञात व्यक्ति की भांति जीवन व्यतीत करने लगा। पड़ोसी जमशेरजी कंट्रेक्टर के सिवा किसी भी अन्य व्यक्ति से मैंने संबंध नहीं बनाया। उस पारसी परिवार से भी मेरा संबंध निकट का नहीं था। मगर यदि किसी से दिल खोलकर मैंने बातें कीं, तो चाकर दादा से। दादा पापी पेट को पालने के लिए मेरा नौकर बनकर रहने लगा। हम बहुतेरा चाहें कि मनुष्य का संपर्क न हो, तो भी उसके बिना हम जी नहीं सकते। अपने बच्चों से जो मैंने मोहबंधन तोड़ दिया था, वह दादा पर फूलने लगा। धीरे-धीरे उसे भी मालूम हो गया होगा कि मानव-मोह मेरी दुर्बलता है। वह चाकर बनकर आया और 'दादा-दादा' के आत्मीय संबोधन का भी हकदार बना। अंत तक मुझ पर मेरे बड़े भाई से भी अधिक उसका अधिकार हो गया। उसके साथ चाकर-सा व्यवहार करना मेरे लिए असह्य था। काम से उसे हटाना मेरे लिए क्षण-भर का काम था। मैंने अनुकंपा की घड़ी में उसे वचन दिया था कि मैं जितने दिन जीवित रहूंगा, उसकी देखरेख करूंगा। इस वचन को पूरा करने के लिए ही बहुत दिनों तक उसे अपने पास रखा। किंतु वह भी मुझे धोखा देने लगा। वह मेरे धन की चोरी करने लगा। पास-पड़ोस के बच्चों के साथ अविश्वासपूर्ण बर्ताव भी किया और आखिरकार वही स्वयं बखेड़ा उठाकर चला गया। इधर एक वर्ष से मेरा शरीर काफी कमजोर पड़ने लगा है। इसके बावजूद कुमटा में रहने वाले अपने बंधुजनों के पास लौटने की इच्छा मैंने नहीं की। उनका कोई समाचार भी मुझे नहीं मिला है।

"उस दिन पूना से बंबई तक हम दोनों साथ-साथ रहे थे, याद है न? उसी दिन से आपके प्रति मेरा स्नेह बढ़ गया था। आप मुझे अपने जीवन के प्रतीक दिखाई पड़े। मुझे लगा कि हममें एक भ्रार्तृत्व का भाव है।... मेरे एकाकी जीवन के लिए बंबई आश्रयदाता बनी थी, तो भी ऐसा लगा कि जीवन के अंतिम दिनों के लिए यह ठांव उचित नहीं है। जब कभी मैं सोचता हूं कि कहां जाऊं, तब-तब मुझे आपकी याद सताने लगती है। लगता है आपके साथ रहता, तो जीवन का पूरा इतिहास आपको सुना सकता था। अपने जीवन में जो समस्याएं, उलझनें और शंकाएं मुझे उद्वेलित करती रही हैं, कहीं उन्हें आपके मत्थे तो नहीं मढ़ रहा हूं? इसीलिए आपको पत्र लिखकर पूछा था—'कब आ रहे हैं?' अपना इतिहास सुनाने की उत्कट आकांक्षा के साथ। दादा के चले जाने के बाद न जाने मुझे क्यों ऐसा लगा रहा है कि जीवन के नाटक का अंतिम दृश्य तेजी से समाप्त हो रहा है और परदा गिरने ही वाला है। अगर वह गिरने से रह गया, तो कदाचित आपके गांव आ भी जाऊं। परदा गिरेगा, तो मेरी स्मृतियां मेरे ही साथ दफन हो जाएंगी न? इन हजारों-हजार स्मृतियों में आठ-दस अच्छी बातें नहीं होंगी क्या, जिन्हें दूसरे को सुनाया जा सके? इस खयाल से जो कुछ मैं लिख पाया, वह आपको भेज रहा हूं।

"इधर दो दिनों से जब मैं आंख मूंदकर सो जाता हूं, तो बार-बार मुझे अपनी मां का विस्मृत रूप दिखाई पड़ता है। ऐसा लगता है, मानो मुझे वह रूप यह कहकर बुला रहा हो कि 'आओ बेटा, नाटक पूरा हो चुका है। तुम अपना काम कर चुके हो।' नाटक का पात्र होते हुए भी एक दिन इससे मुक्त भी तो हो जाना चाहिए न? मनमाने रूप से वेशभूषा को फेंकने की बजाय उसे भावी पात्रों के लिए छोड़ देना कर्तव्य है न? मैं जो कुछ भेज रहा हूं, वह यही नाटकीय वेशभूषा है।"

यह एक अपूर्व पत्र है। उसे एक अमूल्य भेंट ही कहा जाना चाहिए। उसके साथ आया हुआ पंद्रह हजार रुपये का ड्राफ्ट तो एकदम नाचीज है। वह धन उनका है, उनकी इच्छा के अनुसार उसका उपयोग होना चाहिए। बंबई से अगर वह मेरे गांव आ जाते, तो मुझे इस बात की चिंता न रहती। उनकी पूंजी के बारे में मुझे जो चिंता हो रही थी, वह दूर हो गई। लेकिन अत्यंत विश्वास के साथ जो रोजनामचा उन्होंने मुझे भेजा है, उसमें संजोये हुए स्मृति-मोतियों को निकालकर परखना चाहिए, देखना चाहिए। उनके कमरे से जो चित्र लाया हूं, उन्हीं की तरह गहरी भूमिका इनकी भी है। इनके बारे में मुझे बहुत कुछ जानना है। मुझे यह भी जानना है कि उनकी जन्मभूमि कहां है, उनका घर कैसा है जिसकी छाया में पलकर वे बड़े हुए, उनका दांपत्य कैसा रहा है, उनके संस्कार क्या रहे हैं, उनका परिवार कैसा है, उन्हें उससे मिले कड़वे-मीठे फल क्या हैं? यह सब मुझे जानना है। आखिर तक जिनकी सहायता उन्होंने की थी, वे पात्र कैसे हैं? मुझे उन्हें देखना चाहिए। उनके द्वारा जिए गए जीवन को यदि मैं जान सकूं, तो उनकी स्मृति से मुझे भारी लाभ होगा—उनसे मुझे और मुझसे अगली पीढ़ी को।

उनकी सारी स्मृतियां शब्द-समुच्चयों में बदल रही हैं। अर्थ की छाया देने वाले वाक्यों-समूहों में बदल रही हैं। लेकिन वे सब कुछ नहीं बता सकतीं। उपनिषदों से और बुद्ध जैसे देवों की वाणी से हमें धर्म का ज्ञान हुआ है, हो रहा है। यों औरों की तरह मैं भी जानकार व्यक्ति हूं। लेकिन मेरी यह जानकारी न केवल निरी पंडिताऊ है, बल्कि शायद मूर्खतापूर्ण भी है। एक समाज, एक काल, उस काल के विश्वासों, उस समाज के विविध सन्निवेशों, उन सन्निवेशों के भागीदार बने विविध शील-चरित्रों के प्रभाव से कुछ कहने की इच्छा होती है। यह इच्छा बार-बार उठती है। काल के बीत जाने पर तत्कालीन परिस्थितियों के जानकार मनीषियों की मृत्यु के बाद हमारे लिए केवल जड़ वाक्य बचे रह जाते हैं। एक-एक शब्द आठ-दस अर्थ देता है। ऐसे शब्दों से बने मुहावरेदार वाक्य हैं। इन्हीं के सहारे बुद्ध की वाणी व्यक्त हुई, वाल्मीकि ने राम को भाषा दी, कृष्ण भी वही कह पाए। यह कैसी ढिठाई? मैं नहीं जान पाता। बात कहने वालों का युग बीते हजारों वर्ष हो चुके हैं। उस काल के प्रवाह में तब का सब कुछ बह चुका है। प्रत्येक शब्द अपना मूल अर्थ खो बैठा है, शायद। फिर उसे अर्थ मिला है, शायद। आज की भाषा से क्या

मूल अर्थ जाना जा सकता है?

यशवंतरायजी के रोजनामचे के पृष्ठों को उलटने लगा, तो उसमें जो वाक्य बिखरे पड़े थे, उचित भूमिका और परिस्थिति के बिना वे भी अपूर्ण चित्र प्रस्तुत कर रहे थे। उनसे बनने वाले आठ-दस चित्र जब आंखों के सामने खिंच जाते तो लगता, वे कुछ कहना चाह रहे हैं। चित्र तो काल के आदि-अंतहीन दस्तावेज हैं। ठहरे क्षण के रस-भावों का प्रतिबिंब हैं। उन चित्रों से जो व्यक्ति उभर रहा है, वह कौन है? अगर वह पूरा उभर जाए, तो शायद ठीक-ठीक अर्थ समझ में आ जाए। मेरी ये बातें आपको पहेलियों की तरह लग रही होंगी। मुझे जैसा दिखायी पड़ रहा है, उसे सामर्थ्य के अनुसार कहानी में बांधकर सुसंबद्ध ढंग से सुनाता हूं। कहानी सुनाने से पहले यशवंतरायजी से हुए अपने प्रथम परिचय के बारे में भी कुछ बताना चाहूंगा।

आज से छह वर्ष पहले की बात है। गर्मी के दिन थे। मैं रेलगाड़ी द्वारा धारवाड़ से बंबई जा रहा था। पिछली सारी रात गाड़ी में बिता चुका था। सुबह पूना पहुंचकर बंबई वाली गाड़ी पकड़नी थी, सो बंबई जाने वाली गाड़ी में घुस गया। पहले दर्जे के डिब्बे में जब घुसा तो देखा, वह काफी बड़ा था। मेरे पहुंचने से पूर्व ही डिब्बा लोगों और सामान से भर चुका था। मेरे पास सामान ज्यादा नहीं था...सिर्फ बिस्तरबंद था। उसे लिए हुए कुली डिब्बे में एक ओर से घुसा, तो मैं दूसरी ओर से। एक-दूसरे को ढूंढ़ने में ही काफी समय लग गया। इसलिए बैठने की जगह मिलने में काफी परेशानी हुई। खिड़की के बाहर फैले दृश्यों को देखने की मेरी इच्छा पूरी न हो सकी। मैं इस ओर बैठा था। खिड़की के पास एक बुजुर्ग व्यक्ति बैठे हुए थे। वह सीधी-सादी पोशाक में थे। सामने काले साहब का परिवार बैठा हुआ था। वे शायद गोवा से आए होंगे। वे कुछ इस तरह बैठे हुए थे, मानो सीधे इंग्लैंड से आ रहे हों! मेरी बगल में जो सज्जन बैठे थे, वह मुझसे उम्र में कोई दस साल बड़े होंगे। वह भी साहब ही थे। वह सभी लोग बातचीत के झंझट से दूर रहने वालों में से थे।

अभी तक सुबह का नाश्ता नहीं हुआ था। कॉफी पीने की तीव्र इच्छा हो रही थी। उसके लिए मैं इधर-उधर झांककर देखने लगा।...बगल के महोदय ने पूछा, "क्या कुछ सामान चोरी हो गया?" यह सज्जन वही थे, जो मुझसे दस साल बड़े लगते थे और इन्हीं का नाम यशवंतराय था।

"नहीं, नाश्ता खोज रहा हूं। रात में ठीक से खाना नहीं खा पाया था। इसलिए रेस्तरां वाले का ढूंढ रहा हूं।"

"अभी आ जाएगा। आना उसका काम है।..." उन्होंने कहा। गाड़ी चल पड़ी। रेस्तरां वाले लड़के इधर-उधर चहलकदमी करने लगे। मैंने चुटकी देकर उन्हें बुलाया, लेकिन न तो उन्हें सुनाई पड़ा और न कुछ दिखाई ही पड़ा। इसका मुख्य कारण था मेरी सीधी-सादी

पोशाक। साहबों के झुंड में शायद मैं बकरी की तरह लग रहा हूंगा उनको! मेरे उस बुजुर्ग मित्र ने "ए बॉय!" कहकर उनमें से एक को आवाज दी। "अभी आता हूं" कहकर वह लड़का चला गया, तो फिर लौटा ही नहीं। तब उन्होंने अपना मुंह मेरी ओर फेरकर पूछा, "आपको ब्रेकफास्ट में क्या चाहिए?"

"किसी के लिए भी तो वह लड़का नहीं आया?" मैंने कहा।

"कोई बात नहीं। अभी मुझे भी नाश्ता करना है। आप क्या लेंगे?"

"उसके आने के बाद... ।"

"टोस्ट, कॉफी – बस यही न? या ऑमलेट...?"

"मैं ऑमलेट नहीं लेता हूं ... ।" कह ही रहा था कि वे उठकर मैनेजर के पास चले गए। मेरी ओर से उन्होंने शिकायत की, और दो लड़कों को लेकर खुद ही नाश्ते की दो तश्तरियां लिवा लाए। और फिर बैठते हुए मजाक में कहने लगे, "वे लड़के समझ गए होंगे कि हम लोग नाश्ते का अधिक पैसा देने वाले नहीं हैं।" मैं भी हंसा, वह भी हंसे। एक बॉय ने दो रकाबियों में नाश्ता दिया – टोस्ट, चीज़, जैम और कड़वी कॉफी! मैं इतना अधिक भूखा था कि मेरी दृष्टि केवल नाश्ते पर लगी हुई थी। नाश्ता खत्म कर लेने पर हमने तश्तरियां पैरों के पास रख दीं। उन्हें ले जाने के लिए भी लड़कों को बुलाना पड़ा। साथ ही 'बिल' भी आ गया। एक बिल देखकर मुझे कुछ आश्चर्य हुआ। पर्स निकालकर पैसे देने लगा, तो उन महाशय ने मुझे रोक लिया और बोले, "आर्डर मैंने दिया था न?" "इच्छा मेरी थी न?" मैंने कहा, "कम-से-कम अपने नाश्ते का बिल तो मुझे चुकाना ही चाहिए?" "रेलगाड़ी में यह 'मैं-तुम' क्या है?" कहकर वह मुस्कराए। उन्होंने मुझे पैसा नहीं देने दिया। मैं सोचने लगा–'यह कैसे आदमी हैं, भाई!'

"अकेले खाने की आदत नहीं है, इसीलिए ऐसा किया।" उन्होंने कहा।

"बड़े हैं आप।"

"उम्र में हूंगा।" उन्होंने कहा, तो मैं सिर्फ हंसकर रह गया। तब हमारी गाड़ी लोणावका स्टेशन पार कर चुकी थी। आगे का खंडाला पहाड़ यात्रियों के लिए रसपाक है। लेकिन मैं खिड़की से दूर बैठा था। चाहता था कि खड़ा होकर देखूं, परंतु सामने बैठे साहब के पांव बहुत लंबे पसरे हुए थे। उसी हालत में संतोष कर मैंने सिर उचकाया और बाहर की ओर झांकने लगा। मेरा मन घूमती हुई प्रकति की सुंदरता में डूब गया। उस खूबसूरती को सुरंगों का अंधेरा काट रहा था। पहली सुरंग पारकर जब गाड़ी बाहर आ रही थी, तो मेरे मित्र खड़े हो गए थे। मेरे कंधे पर हाथ रखा और बोले, "खिड़की के पास बैठ जाइए।"

"कोई चिंता नहीं, आप बैठे रहिए।"

"आप काफी उत्सुक दिखाई पड़ते हैं। मैं तो साल में कोई आठ-दस बार पूना जाता हूं।" उन्होंने मुझे जबरदस्ती खींचकर खिड़की के पास बिठा दिया।

मैं सोचने लगा। आखिर यह आदमी है कौन, जो दूसरों के मन की बात ताड़कर तदनुरूप उदार हो उठता है? कुछ समय तक मैं खिड़की से बाहर ताकता रहा। घाटों की कतार चुकने लगी। आगे के दृश्य मामूली थे, मैं उठ खड़ा हुआ और उनसे याचना की, ''अब तो अपनी जगह पर आ जाइए।''

''दो ही घंटे का तो रास्ता बचा है।...बैठे रहिए,'' उन्होंने कहा। उनसे परिचय कर लेने की इच्छा हुई। पर आस-पास के वातावरण को देखकर जोर से बोल पाना संभव नहीं था। कहीं सामने बैठे लोग नाट्यशाला के नटों जैसे बमक पड़े तो? रेलगाड़ी मानो उनका घर है। मानो उनके सामने हमारा कोई अस्तित्व ही नहीं, ऐसा वे हमारे साथ व्यवहार कर रहे थे। उनके व्यवहार से ही हमें एक तरह की जुगुप्सा हो गई थी। तो भी मैंने धीमे स्वर में पूछ ही लिया, ''आपकी यात्रा कहां तक?''

''बंबई तक।''

''आप बंबई के रहने वाले हैं?''

''मैंने बंबई को अपना घर बना लिया है। मेरा जन्म-स्थान दूसरा है। परंतु आजकल बंबई में ही रहता हूं। क्या आप भी बंबई जा रहे हैं? आपकी बोली कन्नड तो नहीं है?''

अभी तक हम अंग्रेजी में बातचीत कर रहे थे। मुझे आश्चर्य हो रहा था कि वह कैसे जान गए कि मैं कर्नाटकी हूं। मैंने पूछा, ''आपको कैसे मालूम हुआ कि मैं कन्नडभाषी हूं?''

''रेस्तरां के लड़के जब नहीं आए, तो आपने कहा था न—'अब्बा जन गके (बापटे लोग),' इसी से।''

''आप कन्नड जानते हैं?''

''बिना बोले बहुत समय हो चुका है। लेकिन क्या मातृभाषा भूली जा सकती है?''

''आपका गांव?''

''उत्तर कन्नड (कारवार) जिले का एक गांव।...अब बंबई में रहता हूं।''

''किसी नौकरी पर हैं?''

''हां, अपनी ही नौकरी करता हूं।''

''यानी खुद का व्यापार है?''

''व्यापार से तंग आकर उसे छोड़ दिया। अब स्वतंत्र रहता हूं।''

''अवकाश का जीवन?''

''जीवन से अभी अवकाश ग्रहण नहीं किया।'' कहकर वे हंसने लगे। उसके बाद धीरे-धीरे उन्होंने मेरे बारे में पूछताछ शुरू की। उन्हीं की तरह गिने-चुने शब्दों में नहीं बोला हूंगा मैं...वाक्य पर वाक्य कहे होंगे। नहीं तो 'मैं फलां हूं, फलां काम के लिए बंबई आया हूं, इतने दिन रहूंगा' आदि उत्तर देकर काम चला लेता। बात खत्म भी नहीं हुई थी कि दादर रेलवे स्टेशन आ पहुंचा। गाड़ी रुक गई। ''यह दादर है न?'' कहकर मैं उठ खड़ा

हुआ। मूर्ख की तरह हड़बड़ाकर मैं उनसे कहे बिना ही जाने लगा। उसी समय खयाल आया कि गाड़ी दस मिनट रुकेगी। बिस्तर ढूंढने से पहले मैंने उन्हें नमस्कार किया। कृतज्ञ की भांति पूछा, "अब भेंट कहां होगी? आपका नाम ही नहीं जान पाया।" मेरी मनःस्थिति खासी अजीब हो गई थी। उन्होंने अपनी जेब से एक 'मिनीकार्ड' निकाला और उसे मुझे थमाते हुए बोले, "इसमें है मेरा नाम और पता। आज नहीं तो कल, अबकी बार नहीं तो अगली बार, जब फुरसत मिले, मेरे घर आइए। आराम से बातें होंगी।"

जब मैं उनसे विदा लेकर गाड़ी से प्लेटफार्म पर उतरा, तो मेरी राह देख रहे मेरे दो मित्रों ने 'हेल्लो' कहकर मेरे कंधे पर हाथ रख दिए! फिर उन महोदय की याद आई। तब तक मैं यशवंतरायजी का दिया हुआ कार्ड ठीक से नहीं देख पाया था।

मैं अन्यमनस्क हो चला था। अंधेरे कमरे में किसी बालक के सामने जुगनू दो क्षण, केवल दो ही क्षण नाचकर-चमककर गायब हो जाए, तो उस बालक को कितनी निराशा होगी? ऐसी ही हो गई थी मेरी स्थिति। इधर, मेरे मित्र मुझसे जो प्रश्न पूछ रहे थे, उनका भी उत्तर मैंने दिया। फिर उन्होंने टैक्सी मंगाई और जोर-जबरदस्ती से मुझे अपने घर ले गए। मैं उनके कब्जे में था। पर मेरा मन मेरे कब्जे में नहीं था... यशवंतरायजी के व्यक्तित्व से प्रभावित हो जाने के कारण।

उस बार मैं बंबई में चार-पांच दिन रहा। एक दिन समय निकालकर शाम को चार बजे के करीब मालाबार हिल पर स्थित उनके मकान पर गया। समुद्र के किनारे खपरैल का एक मकान था, जिसे झोंपड़ी भी कहा जा सकता है, उसी की दूसरी मंजिल के एक हिस्से में वह रहते थे। इमारत के एक ओर मालाबार पहाड़ दिखाई पड़ते थे तो दूसरी ओर मनमोहक समुद्र। मंजिल पर चढ़ चुकने के बाद मैंने पाया कि समुद्र मुझे आकर्षित कर चुका है, इसलिए वहीं खड़ा होकर उसे देखता रहा।

मैंने यह तक नहीं सोचा कि मरे मित्र घर पर हैं भी या नहीं। इतने में उनका नौकर ऊपर आया और घुड़की-भरे स्वर में पूछने लगा, "आपको क्या चाहिए? आप यहां क्यों खड़े हैं?" वही आदमी इस कहानी का 'दादा' है। उसका ऊपर चढ़ने का ढंग और मुझसे बात करने का तरीका बड़ा ही मालिकाना था, जो मुझसे सहा नहीं गया। मैं उसे घूरता रहा। मुंह फेरकर वह भीतर गया। फिर कुछ देर तक मैं समुद्र की ओर ताकता रहा और तृप्त हो जाने पर कमरे की ओर मुड़ा और बंद दरवाजा खटखटाने लगा, "यशवंतरायजी!"

मेरी आवाज को जैसे वह पहचान गए। "आइए, आइए!" कहते हुए यशवंतरायजी ने दरवाजा खोला। बाहर आए और हाथ में हाथ देकर मुझे अंदर ले गए। बाद में मैं अकसर उनके घर आने-जाने लगा। कई बार इस दादा को देखने का अवसर मुझे मिला था। जब वह यह जान गया कि मैं यशवंतरायजी का अंतरंग मित्र हूं, तो उसका रंग एकदम बदल गया। वह मुझे अत्यधिक आदर देने लगा। मुझे देखते ही यशवंतरायजी ने पूछा था, "आए

हुए कितनी देर हो चुकी है?"

"पंद्रह मिनट।"

"कहां थे?"

"बाहर बरामदे से समुद्र देख रहा था। बहुत सुंदर दृश्य है। आप भग्यवान हैं कि आपको ऐसी जगह मिल गई।"

उन्होंने दादा से पूछा, "दादा, जब यह बरामदे में खड़े थे, तुम्हें नहीं दिखाई पड़े क्या?"

दादा तुतलाने लगा। तब उन्होंने कहा, "मुझे क्यों नहीं बताया?"

वह निरुत्तर हो गया। मैंने ही कहा, "ऐसी बात नहीं है। उसने मुझसे पूछा था, मैंने ही जवाब नहीं दिया। उसके बोलने का ढंग ...।" इतना कहकर मैं रुक गया। वह हंसते हुए बोले, "दिखला दिया न कि इस घर का मालिक वही है?"

मुझे लगा कि कुछ वर्षों के साथ रह रहे दादा को वे अच्छी तरह जान चुके हैं। उस घटना को मानो वह भूल चुके हैं। दादा से बोले, "दादा, मेरे और रायजी के लिए चाय बनाओ।" इस बात से दादा को तनिक तसल्ली-सी हुई। वह भागकर गया, फल, बिस्कुट और चाय ले आया और हमारी ओर देखता हुआ चला गया। उसके बाद मैं उनसे बातचीत करने लगा, " इस घर में आप अकेले हैं न?"

"दादा और मैं।"

"क्या वह कोई नातेदार है?"

"नातेदारी क्या, कर्जदार है।" कहकर वह हंसे, "ऐसे प्रश्न न पूछिए। मैं अपनी पिछली जिंदगी का चोला फेंककर यहां आया हूं।...मेरे अपने कहे जाने वाले बहुत लोग हैं, पर मुझे किसी की भी जरूरत नहीं है। मैं केवल अपने लिए रहूं, इस विचार से यहां आया हूं। यहां दस वर्ष बीत चुके हैं। अब क्या है? स्वास्थ्य ठीक हो, तो दूसरों की क्या आवश्यकता है?...संसार में दूर बैठकर उसे देखते रहना भी अच्छा लगता है न?"

"समय कैसे बिताते हैं? काम के बिना...।"

"काम के बिना? काम के बिना कैसे रह सकता हूं?...उसे देखिए, मैं तो एक अपरिपक्व कलाकार हूं, मैं नहीं समझता कि मुझे चित्रकला का ज्ञान है, किंतु वह मेरे मन के पागलपन को एक मौका देती है। और फिर पुस्तकें हैं; खरीदता हूं, नहीं तो वाचनालयों से मंगवाकर पढ़ता हूं। सवेरे- शाम घूमता हूं। मन इससे भी ऊब जाए, तो उस तरफ बच्चे हैं न...उनका स्नेह मिलता है। मन और भी बदलाव चाहे, तो पूना, महाबलेश्वर या खंडाला हो आता हूं।"

"वहां?"

"चित्र बनाना, दुनिया को देखना! साहित्य की सृष्टि करने वाले आप ही यदि ऐसे पूछने लगें तो...? उन्होंने कहा, तो मैं हंसा और अपनी गलती स्वीकार कर ली। "चिंतन भी एक काम ही है, यह सभी जानते हैं। किंतु वह चिंतन है भी या नहीं, इसका निर्णय

कौन करे? औरों की दृष्टि में चिंतन करने वाला आलसी हो सकता है। जो आलसी है, वह भी कह सकता है कि मैं समय बिताता हूं।"

"मैं प्रश्न पूछकर गलतबयानी तो नहीं कर रहा हूं?"

"नहीं, नहीं, आप मुझसे प्रश्न पूछ सकते हैं, लेकिन उनका जवाब देना लाजिमी तो नहीं है! मैं जो कुछ उत्तर देता हूं, उससे मेरी संतुष्टि होती है। यदि कह भी दूं कि कोई काम नहीं कर रहा हूं, तो मुझसे उसकी कैफियत मांगने कौन जा रहा है? बिना काम के तो मैं बैठ भी नहीं सकता। समय बिताना कठिन लगने लगे, तो मैं उस घर के बच्चों के साथ बच्चा बनकर अपने को भूल जाता हूं...।" वह कहते जा रहे थे कि बीच में छह वर्ष की एक पारसी लड़की आई और पुकारने लगी, "दादा!" घर के दादा ने जवाब नहीं दिया। यशवंतजी मेरी ओर देखने लगे, "उसका दादा मैं हूं" कहकर बाहर की ओर दौड़े और लड़की को गोद में उठाकर ले आए। "हमें संसार का सुख पाना हो, तो सबके बच्चों को अपने बच्चे समझें, बस!"

"सच है, जब तक वे बच्चे रहते हैं, तभी तक। उसके बाद वे कहां और हम कहां?"

"ठीक है, उनके बड़े होने तक हजारों नये बच्चे पैदा हो जाते हैं। ऐसा तो है नहीं कि बच्चे होते ही न हों।"

"बच्चे जब बड़े हो जाते हैं, तब भी हमारी प्रीति और उनकी प्रीति एक सरीखी, एक-सी बनी रहती है।"

"बड़े हो जाने पर वे बच्चे नहीं रहते। उनकी दुनिया ही अलग हो जाती है। वे स्वतंत्र हो जाते हैं। हमें ऐसों से प्यार नहीं करना है। हम अपनी करुणा, अपनी सहानुभूति उन्हीं को दे सकते हैं, जो अपना जीवन चलाने में असमर्थ किशोर होते हैं। बस, इतना ही तो करना होगा न?"

उन्होंने उस बच्ची को पैरों पर बिठा लिया। उसने घोड़ा मांगा। यशवंतजी ने कागज-पैंसिल लेकर घोड़े का चित्र बनाया और उसे दे दिया। फिर बच्ची कहने लगी, "इस घोड़े की कहानी सुनाओ।"

"एक गांव में एक घोड़ा था।" वह कहानी सुनाने लगे।

बच्ची ने पूछा, "एक ही घोड़ा?"

"न, न! बहुत सारे घोड़े हैं। अब एक-एक करके वे आएंगे, देखो," कहकर उन्होंने उसकी निराशा खत्म कर दी। कहानी आगे बढ़ी। मैं भी बालक बनकर उसे सुन रहा था। उस दिन उनसे ज्यादा बातें नहीं हुईं। जब मैं विदा लेकर उठने लगा, तो उन्होंने मुझसे पूछा, "फिर कब आना होगा?"

"अगले वर्ष," मैंने कहा।

"अच्छा, जरूर आइए," वह बोले।

यही पहला परिचय है मेरे और यशवंतरायजी के बीच।

तीन

यह अचरज की ही बात थी कि अपनों से संबंध तोड़ लेने वाले यशवंतरायजी ने दादा जैसे नौकर को अंतरंग की तरह अपने पास रखकर समय बिता दिया। उसे केवल उनकी सेवा-शुश्रूशा करनी होती थी; बाकी समय में वही घर का मालिक था। इसमें कतई अतिशयोक्ति नहीं है। हिसाब देखने पर मालूम हुआ कि घर की देखभाल के लिए दादा को प्रतिमाह तीस रुपये से कम वह नहीं देते थे। पांच वर्षों में यह राशि चालीस तक पहुंच गई थी। उसका खाना-कपड़ा अलग। मैंने कई बार खुद अपनी आंखों से देखा था कि पसंद का सिनेमा होने पर दादा को वह पैसे देते और "मैटिनी शो है, देख आओ" कहकर भेज देते। मुझे ऐसा नहीं दिखाई पड़ा कि दादा यशवंतरायजी के साथ विश्वसनीय व्यवहार करता है या कि उनके प्रति वफादार है। लगता था कि उनके सामने वह प्यार का ढोंग करता है। वैसे, उससे भी अधिक विश्वसनीय उत्तर भारत के लोगों को अपने यहां रखने में उन्हें कोई मुश्किल नहीं थी। एक-दो बार उसने अकड़कर बातें भी की थीं। उसकी गैर-हाजिरी में मैंने पूछा भी था, "आप कैसे इसे सह लेते हैं?" उन्होंने हंसकर कहा था, "यह भी एक कर्ज का रिश्ता है।"

"आप पूर्वजन्म में विश्वास करते हैं?" मैंने उनसे पूछा।

"मेरे लिए न पूर्व है, न अपूर्व।" उन्होंने उत्तर दिया।

"तो?"

"यहां सड़क पर पड़ा था वह लड़का। किसी निचले हिस्से की दुकान के चबूतरे पर पड़ा कराहता रहता था। एक दिन देखा, वहीं था, दूसरे दिन भी वहीं पड़ा था। तब दुकानदार उसे डांटकर भगा रहा था। तब उसकी उम्र कोई चौबीस वर्ष की होगी। सूखकर दुबला और कंकाल हो गया था। देह में केवल प्राण ही शेष थे, आठ-दस बार वह देह घसीटते हुए समुद्र के किनारे तक जाकर आया था। उसे मैं देखता रहता था। बंबई कारपोरेशन ने गली के भिखमंगों के लिए कोई शौचालय भी नहीं बनवाया था, बार-बार शौच जाता था, कराहता था। मैं समझ गया कि उसे कोई बीमारी है। दुकानदार को अपनी दुकान के सामने उसकी गंदगी बर्दाश्त नहीं हुई। मुंह से कहकर देखा। डांटकर देखा, गालियां भी दीं। आखिर उसने एक लंबी बेंत भी निकाल ली। दुमंजिले पर मेरे कानों में यह शोर पड़ा। बेंत से पीटने की आवाजें भी सुनाई दीं। "अहमद!" फटकार के स्वर में मैंने उस परिचित दुकानदार को पुकारा। वह समझ गया कि मैं गुस्से में हूं। वह ऊपर चढ़ आया और अपना दुखड़ा सुनाने लगा, "कहीं अस्पताल में भी तो पड़ा रह सकता है न? गंदा आदमी मेरी दुकान के सामने पड़ा रहे, तो चाय पीने के लिए जो दो-चार ग्राहक आते हैं, वे भी नहीं आएंगे।"

''केवल इसलिए उसे पीटते हो? उसमें चलने की ताकत तक तो है नहीं।''

''मैंने काफी प्यार से उससे कहा। लेकिन वह नहीं गया। पुलिस को बुलाकर देखा, तब भी वह नहीं गया। अब मैं क्या करूं?''

''हम भी एक दिन ऐसे ही नहीं हो जाएंगे, यह कौन जानता है?''

तब अहमद गरमा गया। '''तो आप ही उसे उठा लाइए और पालिए।'' कहकर वह तेजी से चला गया। शायद उसे लगा हो कि मैं उसकी कद्र नहीं कर रहा हूं। नीचे जाकर उसने अपना गुस्सा उस बीमार पर निकालते हुए कहा, ''देखा, ऊपर तुम्हारे दादा हैं। वहां जाओ। तुम्हें अच्छे बिस्तर पर सुलाकर तुम्हारी तीमारदारी करेंगे।'' उसकी ताने-भरी आवाज मेरे कानों में भी पड़ रही थी। मैं उतरकर नीचे गया। देखा कि दुकान के सामने वह मृत-सा पड़ा है। मैंने सोचा, जो उपदेश मैंने अहमद को दिया है, उसी के अनुसार चलूं। मैं पसोपेश में नहीं पड़ा। उसको अपने हाथों पर उठाकर सीढ़ियां चढ़ते हुए मैं ऊपर ले आया और बिस्तर पर लिटा दिया। तब शायद वह लड़का डर गया था। मैं भी विमूढ़ हो गया। फिर दुकानदार अहमद ऊपर आया और क्षमा मांगने लगा, ''सेठजी, हम दोनों एक टैक्सी का प्रबंध करें और इसे किसी अस्पताल में दाखिल करा आएं। उसकी पूरी देखभाल आपसे यहां क्या हो सकेगी? मैंने आपका अपमान किया, मुझे क्षमा कीजिए।'' मैं कुछ नहीं बोला। सीधे नीचे उतर गया। वहीं दस इमारतों के बाद रहने वाले डा. दारुवाला के अस्पताल में गया और उन्हें बुला लाया। उस अनाथ को देखकर उन्हें भी आश्चर्य हुआ। उन्हें पता चला कि यह लड़का सड़क पर पड़ा रहता था। उन्होंने भी पूछा, ''इसे अस्पताल में क्यों नहीं दाखिल कर देते?'' मैंने कहा, ''नहीं, मैं स्वयं उसकी देखभाल करूंगा। मर गया, तो किस्सा खत्म हुआ और जी गया तो ठीक हो जाने पर अपनी पसंद की जगह चला जायेगा।''

''दो महीनों के बाद वह आदमी बन सका। उसे आंव-दस्त की बीमारी थी। उसके गंदे कपड़े निकालकर फिंकवा दिए गए। नये कपड़े पहनाए गए। साफ बिस्तर पर लिटाया गया। उसकी तीमारदारी की गई। इस खतरनाक बीमारी से या कि मौत के मुंह से उसे बचा लाने में दो महीने लग गए। यह सब डा. दारुवाला की कृपा से हो पाया। जिंदा रहना उसके भाग्य में बदा था, इसलिए बच गया। उस लड़के का शौच मुझे ही दस बार साफ करना पड़ता था। पहले पंद्रह दिन तक आंव-दस्त के साथ-साथ अनेक अन्य रोगों ने भी उसे जकड़े रखा। दारुवाला मेरी फजीहत को समझकर दिन में दो बार अपने अस्पताल की परिचारिका को मेरे यहां भेजा करते थे। 'दादा' उसका असली नाम नहीं है। अहमद के व्यवहार से दुखी होकर ही मैं उसे 'दादा' कहकर पुकारने लगा। वह मराठी लड़का था। गणपत था उसका नाम। जब वह स्वस्थ हो गया तो यहीं रखने के इरादे से मैंने उसे काम पर रख लिया। सुना है, सतारा में उसकी बड़ी बहन या छोटी बहन या ऐसी ही कोई रिश्तेदार है। साल में एक बार वह सतारा हो आया करता था।''

तब मैंने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा, "यदि ऐसा है, तब तो दंडस्वरूप खरीदा गया पदार्थ है यह! उसे तो आपके प्रति काफी विनयशील और शिष्ट होना चाहिए था!"

वह हंसे और बोले, "दंड ही है। पर एक प्राण-रक्षा में खर्च किया गया धन क्या दंडस्वरूप है? धन और उसमें क्या संबंध!"

"सो ठीक है। उसके लिए उचित गुण भी तो उसमें होने चाहिए न? यह भावना भी तो होनी चाहिए न कि यह ही मेरे प्राणरक्षक हैं!"

"यानी, हर क्षण हरिभक्तों-दासों की भांति मेरा गुणगान करते रहना चाहिए...तुम ही मेरे सहारे हो, तुम ही मेरे मोक्ष हो?"

"कम-से-कम व्यवहार में तो होना ही चाहिए।"

"मुझे लगता है कि उसका लालन-पालन ही वैसे वातावरण में हुआ है। ठीक से संस्कार नहीं हो पाया है उसका। उसकी मां की दो लड़कियां हैं और वह उसका इकलौता बेटा है। माता ने शायद अधिक लाड़-प्यार से इसे पाला-पोसा होगा। 'मां का प्यार अपना है', यही सीखा होगा उसने। आरंभ से वही भाव मुझ पर भी बढ़ता चला गया।"

"तो?"

"मान लीजिए, इसे भगाकर दूसरा लड़का रख लेता हूं। इस 'दादा' को दूसरी नौकरी भी मिल सकती है। मगर नया आदमी इससे भी बढ़कर निकल सकता है। तब इसमें और उसमें क्या फर्क रह जाएगा?"

"आपका मतलब है, कोई फर्क नहीं रह जाएगा?"

"'मुझे अपने पुत्र से जो मिलना चाहिए था, वह नहीं मिल सका।"

"आपके कितने बच्चे हैं?"

"उन सबको विस्मृत कर नये सिरे से अपने को शुरू करना ही मुझे पंसद है। वह एक समाप्त अध्याय है। अब यह 'दादा' ही मेरा बच्चा है। मेरे अपने बच्चों की तरह ही वह अच्छा है या बुरा है, बस।" कहकर वे कुछ खिन्न-से हो गए।

जब मैं दूसरी बार यशवंतरायजी के घर गया था, तो और भी बातें हुई थीं। उनके व्यवहार, रहन-सहन का अर्थ ही मैं नहीं समझ सका। मुझे लगा कि उदारता का लाभ पाने में 'दादा' कुछ भी छोड़ रखने वाला नहीं है। उपकार का बदला उपकार से, अच्छाई का बदला अच्छाई से वाली भावना उसमें सिरे से गायब थी। 'दादा' के स्वभाव को शायद वह अच्छी तरह नहीं समझ पाए थे। यदि वह उसके स्वभाव को एक दिन के लिए भी अच्छी तरह समझ जाएं, तो वे घोर निराशा से बच नहीं सकते। इतने लंबे समय के बाद, यशवंतरायजी का रोजनामचा देख-पढ़ लेने के बाद, उनके द्वारा बनाए गए चित्रों को देख लेने के बाद भी मुझे लगता है कि मैंने उनके बारे में जो राय बना ली है, वह गलत है।

"सर्दी, हवा, वर्षा से कांपते-तड़पते एक तोते के बच्चे को मैं उठा लाया और उसे

पाला। तोते का बच्चा एक सुंदर पंछी है, इसी भावना से मैं उसे लाया हूंगा। 'कहीं वह मर गया तो' यह खयाल आते ही मैं दुखी होने लगता था। सौभाग्य से वह बच गया। जी गया। पहले की तरह स्वस्थ हो गया। बातचीत करना सीख गया। मैं जो कुछ बोलता, वह उसकी नकल करता। क्या तोता आदमी की भाषा बोल सकता है? अर्थ न जानने पर भी वह नकल करता है। अनुकरण करना ही उसका स्वभाव है। क्या उसे मुझसे प्यार नहीं है? पिंजरे में रखूं, तो चीखता है। बाहर निकालता हूं तो खंरोचने लगता है। हाथ पर, कंधे पर धावा बोल देता है। अपने मनोरंजन के लिए पंख फड़फड़ाकर आवाज देता है। यदि पकड़ने जाऊं तो हाथ काटने लगता है। मैं नाराज होकर थोड़ी देर के लिए चुप बैठ जाऊं तो वह भांप जाता है। तब वह मेरे कंधे पर आकर बैठ जाता है और मेरे कपोल पर अपनी चोंच रगड़ने लगता है। तब मैं उसे उठाकर पिंजरे में डाल देता हूं। अच्छाई और बुराई दोनों उस तोते में हैं। आखिरकार वह भी तो एक प्राणी है। जब तक जीवित रहेगा, मेरे पास रहेगा।"

उपर्युक्त बातें उन्होंने दादा के बारे में ही अपने रोजनामचे में लिखी होंगी। इन बातों का दूसरा कोई संदर्भ नहीं सूझता। अच्छाई और बुराई का मिलाप ही तो मुनष्य है। मुनष्य जब तक परिवार में रहता है, तब तक मनुष्य का मनुष्य से नाता बना रहता है। अपने स्वार्थ के लिए, अपनी ऊब से छुटकारा पाने कि लिए उसे दूसरों की अवाश्यकता होती है। हम एकाकी जीवन नहीं बिता सकते। यही यह बताता है कि मनुष्य का मनुष्य से नाता है। बिलकुल एकाकी रहकर, मनुष्यों के संपर्क से अलग रहकर क्या कोई सड़क पर मरना चाहेगा?

यशवंतरायजी के इस तरह के उद्गार उनके द्वारा खींचे गए एक चित्र में मुझे दिखाई पड़ते हैं। ऐसा लगता है कि उन्होंने दादा के स्वभाव का विश्लेषण मुझसे भी अच्छी तरह किया है। उनके द्वारा निर्मित कुछ चित्रों में मानव आकृतियां हैं। उन चित्रों में चित्रित आकार, अवयव यद्यपि प्रामाणिकता की दृष्टि से बिलकुल ठीक नहीं हैं। उन चित्रों को जो रंग दिया गया है, वह भी उन्हीं की पसंद का है। रंग और रंग के बीच बहुत कम मेल है। वर्णानुवर्णों में भी आपसी संबंध बहुत कम है। उन्होंने जिन मनुष्यों की आकृतियां बनाई हैं, उन्हें दो भागों में बांटा गया है। बायें भाग को एक रंग दिया गया है, तो दायें को दूसरा। एक ओर रंग काला है, तो दूसरी ओर सफेद। एक ओर लाल है, तो दूसरी ओर जामुनी। उनको शायद यह भी मालूम नहीं था कि लाल का पूरक रंग हरा है। काले और सफेद रंग में तो मेल बैठ भी सकता है। एक जवान व्यक्ति का चित्र उन्होंने काले और सफेद रंगों से बनाया है। वह युवक पाजामा पहने हुए है। धड़ नंगा है, सिर खुला है। उसके हाथों में कप और सासर है। बायें हाथ से वह केतली पकड़कर चाय उंडेल रहा है। वह यद्यपि समभंगिमा में खड़ा है, लेकिन चित्र के दोनों भागों को देखने पर लगता है कि एक काले

भाग को दूसरे सफेद भाग से जैसे मिलाया गया है। मुंह का आधा भाग एक तरह का है, तो दूसरा भाग दूसरी तरह का है। सिर भी इसी तरह का है। पाजामा पहनने से पैरों का विकार छिप गया है। मानवाकृति में दायें-बायें में फर्क तो रहता ही है। कम-से-कम मनुष्य के चेहरे पर तो वह होता ही है। अगर आप एक फोटो लेकर उसे बीचों-बीच से चीरकर दो भागों में बांट दें, तो उनमें कम-ज्यादा फर्क अवश्य दिखाई पड़ेगा। एक चित्र के दो चित्रार्द्धों को जोड़ दिया जाए, तो चेहरा अलग ही दिखाई देगा। लेकिन यशवंतरायजी ने जो चित्र बनाया है, उसमें यह स्वाभाविक फर्क काफी अधिक हो गया है। एक चेहरे के दो भागों में थोड़ा-सा स्वाभाविक फर्क होने के बावजूद एक समानता होती है। एक होंठ का आधा हिस्सा नाटा या पतला हो सकता है। दूसरा कुछ लंबा या मोटा हो सकता है। भौंहों, आंखों, नाक की दो फांकों, गोलों में थोड़ा-सा फर्क जरूर दिखाई पड़ेगा। क्या हम यह मान लें कि यशवंतरायजी ने यह फर्क व्यंग्य की दृष्टि से अधिक कर दिया होगा? ऐसी बात भी नहीं थी। यह रूप तो ऐसा लगता था कि दो अलग शरीरों को काटकर जोड़ दिया गया है। दाहिने हाथ में कप-सासर और वह भी कमजोर दुबली-पतली हड्डियों वाला हाथ—देखकर लगता है कि ये चीनी के बर्तन हाथ से छूटकर टूट जाएंगे। बायां, जिसमें चाय की केतली है, तनिक मांसल और पुष्ट है। कुल्हाड़ी उठाने वाला हाथ है वह, इसलिए बलवान है। उसका पेट और सीना दोनों देखने लायक हैं। छाती का दाहिना भाग क्षय रोगी की छाती की भांति सिकुड़ा हुआ है, किंतु बायां भाग वैसा नहीं है। हां, कसरत करने वाले पहलवान की छाती की तरह अवश्य लगता है। कितना विकृत दिखाई देता है वह धड़!

धड़ के अनुरूप मुख ऊपर की तरफ है। दाहिना होंठ नीचे की ओर झुका है। दाहिना कपोल कल्ले की हड्डी का प्रतिरूप-सा लगता है। भौंहें उतरी हुई हैं। बाल नहीं के बराबर हैं उनमें। उस भौंह और आंख में जान ही नहीं है। विवर्ण शव की आंख के समान लगती है। लेकिन चेहरे का बायां भाग वैसा नहीं है। होंठ नटखट लगते हैं। होंठ की नोक ऊपर उठी है। बायीं ओर का नथुना फूला हुआ है। काले रंग में अंकित उस भाग की आंख खिली हुई है। आंख की पुतली एक ओर सरकी हुई है और नटखटपन जाहिर कर रही है। उस पर मोटी भौंह बनी हुई है। इन विचित्रताओं—बायीं आंख छोटी, दायीं आंख उससे दुगुनी बड़ी—को देखने के बाद 'यह कैसा व्यंग्य है?' सोचकर मैंने उस चित्र को रख दिया। यशवंतरायजी ने स्वयं बतलाया था कि शरीर के अवयवों की लंबाई-चौड़ाई, साम्यता का अध्ययन उन्होंने नहीं किया था। उनके चित्रों में भी यह कमी झलक रही थी। उस चित्र को रख देने के बाद मुझे यह सोचना बंद कर देना चाहिए था कि यह किसका चित्र है। उन्होंने अपने रोजनामचे में तोते के बच्चे की उपमा दी है, उससे मुझे दादा की याद आई। मुझे लगा कि केतली वाला यह लड़का क्या दादा नहीं रहा होगा? दादा की मुखाकृति चित्रित करने की कोशिश उन्होंने की होगी। यदि केतली वाले लड़के से कहा जाए कि 'यह तुम्हारी

तसवीर है', तो वह शायद आपके चेहरे पर चाय की केतली उंडेल दे! मुंह के सामने आईना रखने का उनका उद्देश्य नहीं रहा होगा। किसी से कहा जाए कि तुम्हारा चेहरा इतना विकृत है, तो वह इसे कतई सहन नहीं करेगा। इसलिए ऐसा प्रयत्न तो उन्होंने किया नहीं होगा। यह चित्र केवल उनके चाकर का है। केतली, कप और सासर उसके रसोईया होने की ओर संकेत करते हैं। ऐसा लगते ही कि यह चित्र दादा का है, मुझे कई बातें याद आने लगीं। किस तरह उन्होंने उसे पाला-पोसा था! थोड़ी हंसी भी आयी। दाहिना भाग दादा की सत्यशीलता को इंगित करता है, जब वह अनाथ था और उनके घर आकर रहने लगा था। इसलिए उस भाग को उन्होंने सफेद रंग से रंगा था। दूसरा भाग दादा की स्वार्थपरता, दुष्टता आदि का प्रतीक है। आंखें, होंठ और नाक – ये सभी इसी अर्थ को पुष्ट करते हैं। बायीं ओर की छाती चौड़ी और मांसपेशियों से पुष्ट है। छाती का दायां भाग एकदम कमजोर है, मानो वह छाती ही न हो। वाकई आदमी का कलेजा बदन के दायीं ओर रहता है। उसी तरह दादा के बायें काले भाग में कलेजे जैसी कोई चीज चिपकी-सी लगती है, जिसे बाहरी मांसपेशियों ने ढंक रखा है। कलेजा है भी तो नहीं के बराबर, या कहें कि बरायनाम है। यह तर्क जब दिमाग में आया, तो तुरंत वह चित्र मैंने संदूक में से निकाल लिया और बहुत देर तक बैठा हुआ उसे देखता रहा। यशवंतरायजी को मानव-स्वभाव का ज्ञान नहीं है, उसमें भी दादा के स्वभाव से वह अपरिचित रहे हों—ऐसा नहीं कहा जा सकता। जानबूझकर उन्होंने उसे पाला-पोसा। किसलिए? उन्होंने उत्तर दिया था, "मनुष्य को मनुष्य चाहिए।" दायां-बायां, काला-सफेद, शुद्ध-अशुद्ध—ये वास्तविक सत्य नहीं हैं क्या? मानव-स्वभाव अच्छाई-बुराई का एक अजब घोल है। इनमें से यदि एक भी गायब हो जाए, तो शायद मानव नाम की चीज ही न रहे। अपनी भलाई-बुराई को माप सकने वाले व्यक्ति को शायद यही लगता है। स्व को मिटाकर दुनिया को समझने जो व्यक्ति निकल पड़ा हो, वह संसार को परस्पर विरोधी, काले-सफेद रंगों में ही समझ पाएगा।

उनके चित्रों में एक चित्र ढोर का भी है। ढोर चरता हुआ दिखाया गया है। उसकी पीठ पर बैठी जंगली मैना ने अपनी चोंच से उसकी पीठ पर एक घाव लगा दिया है। उस चित्र के बारे में मैंने उनसे पूछा था, "यह सामान्य जंगली मैना है न? जो अकसर ढोरों के शरीर की किलनी का आहार करती है।"

"हां, यही है।"

"कहां देखा यह दृश्य आपने?"

"खंडाला में रोज यह दृश्य देखने को मिलना है। जब कभी मन उकता जाता है, तो महीने-भर के लिए खंडाला रह आता हूं।"

"ढोर का आकार हू-ब-हू नहीं बन पाया है।"

"क्या मैंने आपसे यह कहा कि मैं चित्रकार हूं?"

"तो भी, चित्रकला से आपको प्रेम हो गया है।"

"हां, ठीक कहते हैं। चित्र बनाना मेरी आदत बन चुकी है। आदत के लिए किसी अर्थ की आवश्यकता नहीं होती। वक्त कट जाता है इस काम में। कई चिंताओं से मुक्ति मिल जाती है।"

"उस ढोर में आपने क्या आकर्षण पाया? मुझे तो ऐसा विशेष कुछ भी नहीं लगता।"

"उसे वहीं रहने दीजिए। हो सकता है, जो आकर्षण मुझे उसमें दिखाई पड़ा है, वह आपको न दिखाई दे। जब वह दिखाई ही न दे, तो फिर ब्यौरा मालूम करने से क्या लाभ?"

"नहीं, थोड़ी सूचना तो दे ही दीजिए। भूमिका के बिना अनेक चित्रों का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता।"

"आपका मतलब है कि मेरे चित्रों का कुछ अर्थ है?"

"जरूर है। नहीं तो चित्र बनाया ही क्यों जाता?"

"यह भी आप ठीक ही कहते हैं। इस जीवन में कितने कार्यों का अर्थ होता है? काम कर लेने पर 'यों किया' का उत्तर जाने बिना भी हम रह सकते हैं न? ऐसे कितने प्रसंग हैं, जिनका अर्थ हम जान पाते हैं?"

"सो तो ठीक है। लेकिन इस चित्र का अर्थ आप बता ही दीजिए।"

थोड़ी देर तक वह मेरा मुंह देखते रहे और फिर हंसने लगे। और इसके बाद "यह मेरे जीवन से संबंधित एक उपमा मात्र है। इसके बारे में बताने का अभी समय नहीं आया है।" कहकर मेरे हाथ से उन्होंने वह चित्र छीन लिया और अंदर रख दिया। उसे मैं फिर घर आने के बाद ही यानी उनकी चित्रशाला का मालिक बन जाने के बाद ही देख सका। जिस दिन वह चित्र उन्होंने मुझसे छीना था, उस समय वह क्षण भर के लिए नाखुश लगे थे—मेरे प्रश्नों से ऊबकर या अपने जीवन की किसी घटना की याद से, कह नहीं सकता। लेकिन उस दिन बहुत देर तक वह मुझसे नहीं बोले। तब मुझे लगा, मेरी बात से शायद वह नाराज हो गए हैं। मैंने उस बात को टालने की गरज से चालाकी-भरा प्रश्न पूछा, "क्यों न जाकर थोड़ी देर मालाबार हिल या चौपाटी की सैर कर लें?"

"मैं दादा को सिनेमा भेज चुका हूं," उन्होंने कहा, "मैं यहीं बैठूंगा, आप हो आइए।"

"अब जाऊंगा, तो फिर अगले वर्ष ही आ पाऊंगा," मैंने कहा। "अच्छा, ठीक है," वह बोले। मुझे छोड़ने के लिए भी नहीं आए। मुझे लगा, किसी पुरानी याद ने उन्हें बेचैन कर दिया है। मैं नीचे उतरा। सीढ़ियों पर से जब उतर रहा था, तो एक श्वेतवस्त्रा महिला ऊपर आ रही थीं। उसकी उम्र कोई चालीस वर्ष होगी। थोड़ा एक ओर हटकर उसने मुझसे पूछा, "मिस्टर यशवंत देयर?" शायद वह समझ गई होगी कि मैं उन्हीं के पास से आ रहा हूं। "इद्दारे (हैं)।" मैंने कहा। वह मेरी कन्नड समझ गई है या नहीं—इसकी परवाह किए बिना सिर झुकाए हुए मैं धीरे-धीरे कदम बढ़ाने लगा और चौपाटी पहुंच गया। वहां

रेत के ढूह पर अकेला बैठा रहा। तब शाम के कोई पांच बजे होंगे। रास्ते पर सवारियों का जमघट लगा था। चौपाटी के रेतीले ढूहों पर आरामतलब भीड़ इस तरह आकर जमने लगी कि रेत दिखाई ही न पड़े। तब समुद्र में शायद भाटा आया होगा। 'बैक बे' की लहरें सरोवर की लहरों की तरह कमजोर पड़कर आगे बढ़ी चली आती थीं। उसमें हमारे गांव के समुद्र की तरह स्वच्छता, चमक या ज्वार नहीं दिखाई पड़ता था। वह समुद्र तो था, पर ऐसा लगता था, मानो वह शहर के नालों से बहकर आ रहे गंदे पानी का एक तालाब है। काश कि चौपाटी का रेतीला ढूह ही साफ रह पाता! हमारे यहां जैसा स्वच्छ वह नहीं है। हजारों लोग उस पर थूकते हैं। तरह-तरह का कूड़ा-करकट, कागज, जूठन वगैरह फेंकने की जगह वह बना हुआ था। तो भी समुद्र की ज्वार-लहरें दिन में एक या दो बार यथाशक्ति कूड़ा-करकट बहा ले जाया करती थीं। स्वच्छता से क्या मतलब है? ऐसा लोक नहीं कि जहां गंदगी ही न हो, ऐसी देह नहीं जो मैल-रहित हो, बल्कि गंदगी का बार-बार धुलना ही सफाई का लक्षण है।

मैं वहीं अकेला बैठा था। कुछ ही समय बाद वह जल-समुद्र जन-समुद्र में बदलने लगा। समुद्र की गर्जना को मात कर देने वाले सवारियों के स्वर, नारियल वाले, भेलवाले, और बच्चों के हंसने-रोने के स्वरों का घुला-मिला शोरे पूरे वातावरण पर छा गया था। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि मेरे मित्र ने बंबई की उपमा इस जन-निबिड़ से ही दी। लेकिन आश्चर्य यह है कि वे वानप्रस्थ के इरादे से इस जनारण्य में आकर कैसे बस गए! एक दृष्टि से बंबई एकदम जंगल है। वहां लोगों की अपार भीड़ के रहते हुए भी एकाकी जीवन व्यतीत करने की गुंजायश है। कहीं भी जाइए, लोग मिलेंगे ही, भीड़ रहेगी ही। परंतु वहां कोई भी व्यक्ति आमतौर पर किसी दूसरे से यह नहीं पूछता कि 'आप कौन हैं? आप कहां के रहने वाले हैं?' इस घरवाला उस घरवाले को नहीं जानता। सब अपने-अपने रंग में डूबे रहते हैं। यदि आप निमंत्रण पर किसी के यहां जाएं, तभी आपको स्नेह मिल सकता है, अन्यथा नहीं।

इसीलिए मैं सांझ होने तक उस जन-समुद्र के बीच चट्टान की तरह बैठा रहा। जब उससे भी मन ऊब गया, तो ग्रांट रोड स्टेशन की ओर चला गया। मैं विचारों में डूबा हुआ था, इसलिए रास्ते के एक किनारे की ओर होकर मैं उस जन-समुद्र से बच निकला। गामदेवी और लाबरनम को पार कर जब मैं ग्रांट रोड पहुंचा, तो यात्रियों के भारी आवागमन के कारण मुझे वहीं ठहर जाना पड़ा। मुझे मोटरों की कतारों से बचते हुए तीन-तीन रास्ते पार करने थे, तब कहीं मैं रेलवे स्टेशन पहुंच सकता था। मैं मौका ढूंढ रहा था कि मोटरों का जमघट कम हो और मैं आगे कदम बढ़ाऊं, तभी यशवंतरायजी को पास के रास्ते से जाते हुए देखा। उनके साथ वही महिला थी, जिससे मैं उनके मकान की सीढ़ियों पर मिल चुका था। उसकी वेशभूषा वैसी ही थी। वह तो शायद मुझे नहीं देख पाए, लेकिन जिस ढंग

से वे दोनों अगल-बगल होकर घूम रहे थे, उससे मुझे थोड़ा आश्चर्य हुआ। यशवंतरायजी के मुंह से मुझे दो-तीन बार 'वानप्रस्थ' शब्द सुनाई पड़ा। उस पूरे दृश्य और उस शब्द का कोई मेल बैठता नहीं दिखाई पड़ता था। मेरे मन में संदेह उत्पन्न होने लगा कि स्वगृहस्थी से ऊबकर वह बंबई आए और यहां उन्होंने दूसरी गृहस्थी स्वीकार कर ली है। मेरा संदेह स्वाभाविक था। उस दृश्य को भूलने की मैंने बड़ी कोशिश की, लेकिन यशवंतरायजी का पिछला जीवन बार-बार याद आ जाता था। जीवन की अंतिम घड़ी तक तो उस स्त्री को मैंने उनके साथ नहीं देखा था। उन दोनों के बीच यदि गहरा स्नेह रहा हो, तो कोई अचरज नहीं। मनुष्य की यह एक स्वाभाविक दुर्बलता है, यही सोचकर मैंने अपना समाधान किया। लेकिन यदि वह उनके बहुत निकट होती तो उनके अंतिम समय में मैं अवश्य उसे उनके साथ देखता। के. ई. एम. अस्पताल में जब वह बेहोश पड़े थे, तो वह उनके पास आई होगी क्या? कैसे कह सकता हूं कि नहीं आई होगी? उनकी जीवन-यात्रा समाप्त होने पर मैं भी उनके घर गया था। न जाने क्यों मेरे मन में बार-बार यह खयाल उठता था कि दादा की ही तरह वह भी उनकी जिंदगी का रोग बन गई होगी। वर्षों बाद तक मैं मालाबार-स्थित उनके कमरे पर जाता रहा था। वहां दो-चार घंटे रहा भी था। शायद उतरते समय सफेद साड़ी वाली वह महिला मिल जाए, ऐसी संभावना मुझे बनी रहती थी। लेकिन वह तभी और केवल तभी दिखाई दी थी। उनका रोजनामचा पढ़ते वक्त मुझ में यह कुतूहल भी जागा था कि शायद उस स्त्री से संबंधित भी कुछ पढ़ने को मिले।

अपनी डायरी में वह जान-बूझकर व्यक्तियों के नाम नहीं लिखते थे। कई बार तो x, y, z लिख देते थे और कभी अर्थहीन नाम। समूचे लेख में फलां व्यक्ति के नाम से दादा की तसवीर उभरती है, ऐसा मुझे विश्वास होने लगा था। मृत्यु के बाद मनुष्य का नाम एक शब्द-मात्र है। केवल नाम से किसी का पूरा आकार आंखों के सामने नहीं आ जाता। उन्होंने सोचा होगा, कड़वी समृतियों के पुलंदे को अपनी डायरी में क्यों कोई नाम दूं? पाठक क्यों यह समझें कि 'अमुक' व्यक्ति इतना बुरा है, यही सोचकर उन्होंने ऐसा किया होगा। रोजनामचा एक इंदराज है, कहानी नहीं। उपन्यास भी नहीं। वह तो एक प्रकार का इतिहास है, चरित्र है। उसमें भीम भीम ही रहता है और राम राम ही। गणपति यदि लिखा हो, तो वह गणपति ही रहता है। 'दादा' लिखा होता तो मुझे या जमशेर दंपति को मालूम पड़ जाता कि यह किसके बारे में लिखा गया है। दादा से तो हम परिचित थे ही। परंतु रोजनामचा पढ़ने वालों के लिए तो वह केवल x y z है।

एक दिन मैं आराम से बैठा हुआ उनके रोजनामचे के पन्ने उलट रहा था, तो X, Y, Z के बदले 'रीमा' नाम आठ-दस जगह दिखाई पड़ा। यह भी कोई छद्म नाम ही था। यह 'रीमा' कौन हो सकता है! 'खंडाला में जब था' लिखा है न? सोचा, वहां का कोई आदमी होगा। ध्यान से पढ़ा, तो 'रीमे की मां' का प्रयोग दिखाई पड़ा। हंसी आई।

'रीमे की' प्रयोग पर हंसी आए बिना कैसे रह सकती थी? यदि नाम 'रीमा है' तो 'रीमा की मां' होना चाहिए। 'रीमे की' एकदम अटपटा लगता है। मानो उन्हें ध्वनि का खयाल ही न रहा हो। जैसे उनके चित्र हैं, बैसे ही उनके शब्द हैं। दिमाग को काफी दूर-दूर तक दौड़ाना पड़ा। दादा के बारे में यशवंतरायजी के साथ जो चर्चा हुई थी, उसकी याद हो आई। बदनसीबी से चर्चा मैंने ही शुरू की थी। अनाथ दादा का उनके घर आना, डा. दारूवाला को बुलाना, उनके द्वारा लड़के की सेवा, उनकी मदद के लिए डाक्टर द्वारा नर्स को भेजा जाना—सारी बातें याद आने लगीं। उस नर्स का नाम भी याद आया, और यह भी कि उन्होंने नर्स को 'मेरी' के संबोधन से पुकारा था। 'मेरी' तो ईसाई नाम है। उस दिन जब दुमंजिले से नीचे उतर रहा था, तो उस वक्त सफेद साड़ी वाली जो स्त्री दिखाई दी, वह वही नर्स रही होगी। उसके माथे पर कुंकुम-तिलक मैं नहीं देख पाया था। उसके हाथों में चूड़ियां भी नहीं थीं। हां, वह 'मेरी' ही थी। तो उससे उनका परिचय हो गया था। फिर लगा कि यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। फिर कल्पना दौड़ाई, तो मन में यह बात आई कि 'रीमा' इसी 'मेरी' या 'मारी' का उलटा प्रयोग है। मैंने पुनः रोजनामचा पढ़ा। 'रीमा' के स्थान पर स्मृतिपटल में अंकित 'मेरी' को रखा। मेरी की मां भी होगी। वह खंडाला में रहती होगी। यही मानकर मैं लेख पढ़ने लगा—

"रीमा के यहां आने का पता रीमा की मां को कैसी लगा? सो भी मेरे घर में? दादा से तंग आकर मैं यह दिखाने के लिए बंबई से आया हूं कि उसके बिना भी मैं जी सकता हूं। इस तरह आना कोई नयी बात नहीं है। साल में एक बार खंडाला आ जाया करता हूं। मेरी खोज में रीमा को यहां नही आना चाहिए था। पर वह आई और आती रही। इस प्रकार उसने मेरी अनुकंपा या कमजोरी से लाभ उठाने की कोशिश की। दादा की तीमारदारी के लिए उसका आना भी मुझे पंसद नहीं था। लेकिन वह आई और उसने उतनी ही शुश्रूषा की, जितनी कि मैंने। उसने मेरी प्रशंसा करते हुए कहा था, "मैं वेतन के लिए काम करती हूं, आप उसको असहाय-अनाथ जानकर प्यार करते हैं। आपका मन बड़ा है, आप उदार हैं।" चाहे कितने ही बड़े दिलवाला क्यों न हो, यदि उसे अपनी प्रशंसा सुनने की चाह है, तो समझ लीजिए कि वह जाल में फंस गया। रीमा ने यही काम तो किया। इसके सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता। मैं उसकी प्रंशसा पर मुग्ध हो उठा क्या? कह नहीं सकता। बचपन में मैं प्रशंसकों द्वारा खोदे गए गड्ढों में हाथी बनकर गिरा हूं। उसके बाद से यही समझता आया हूं कि सभी खुशामदी चोर होते हैं। अब शायद फिर मुझमें बचपन की मूर्खता लौट आई है। इस बारे में मैं अपना विश्लेषण नहीं कर सका।

"लेकिन रीमा ने मुझे हराने के लिए उसका इस्तेमाल नहीं किया। वह यह जान गई कि मैं गृहस्थी त्यागकर आया हूं। उस बारे में मैंने किसी को भी नहीं बतलाया था, लेकिन न जाने क्यों उसे बता गया? मन की कड़वाहट के कारण? इसलिए कि उसने मेरी मदद

की थी? नहीं, इनमें से कोई भी कारण नहीं है। एक खास तरह के जीवन से उकताकर मैं यहां तो आ गया, लेकिन स्त्री नाम की वस्तु से मैं अब भी विरक्त नहीं हो पाया हूं। रीमा ने मेरी उस कमी को आसानी से जान लिया होगा। वह तो केवल 'रीमा' परिचारिका है—अविवाहिता। केवल अविवाहिता होने के सबब कोई स्त्री एकाकी जीवन व्यतीत करने के लिए तैयार नहीं हो सकती। अपने जीवन को देखकर उसे लगा होगा कि मैं उसके लिए एक आसानी से सुलभ हो जाने वाली वस्तु हूं। उसे चाहे मैं कैसा ही लगूं, लेकिन यह सच है कि वह मेरी कामना-पूर्ति के योग्य बन गई।

"खंडाला में हमारे घर के सामने हरी घास के भरा एक चरागाह है। वहां प्रतिदिन आठ-दस चौपाये चरने आते हैं। उनके आगे-पीछे, दायें-बायें किलनियों को नोचकर खाने के लिए मैना हमेशा तैयार रहती हैं। कभी-कभी बगुले भी आ जाया करते हैं। उनमें कैसी अनोखी दोस्ती है—वे पंछी, ये पशु; उनका आहार किलनी और इनका घास। चौपायों को कितनी ही पीड़ा क्यों न हो, उसे दूर करने के लिए मैना सहज ही तैयार रहती है। अनादि काल से चली आ रही मित्रता है यह।

"एक दिन मैं क्या देखता हूं कि एक मैना ने— भूख से या किलनी के अभाव के कारण, कह नहीं सकता—एक ढोर की पीठ पर घाव लगा दिया है। उससे खून बह रहा था। उसी चित्र को अंकित कर दिया है मैंने। कह नहीं सकता, मैं उसमें अपनी भावना उतार सका हूं या नहीं! रीमा एक जंगली पंछी, एक जंगली मैना है, यह कहा जाये तो अन्याय होगा। एक बहुत सामान्य व्यक्ति पर गर्व करने वाली यदि केवल इस बिना पर अपनी बूढ़ी मां और उसकी यातनाओं को भूल सकती है, तो यह उसकी अनुकंपा नहीं है क्या? मेरे प्रति प्रकट किया गया भाव आदर नहीं है क्या? यह एक घाव नहीं है क्या?"

उन्हीं की डायरी में दर्ज इस चित्र की कहानी ने मेरे सामने मानव-जीवन की एक महान समस्या खड़ी कर दी। यदि नारी-पुरुष के बीच 'प्रेम' नाम के फेनिल बुदबुदे को छूकर तोड़ दिया जाए, तो फिर क्या बचा रहेगा? यशवंतजी ने यहां यह दिखाने की कोशिश की है कि सत्य का मूल्य कितना अल्प है। स्त्री-पुरुष, जंगली मैना, शहरी पशुओं का कैसा मेल मिल गया! जब तक किलनी है, तब तक दोस्ती भी है। यदि वह नहीं, तो केवल घाव बना रह जाता है। हम प्यार करते हैं—किसलिए? परोपकार के लिए? नहीं। उदारता के कारण? नहीं। हम प्यार केवल निजी स्वार्थ के लिए करते हैं। इस चित्र से मानो उन्होंने यही बताना चाहा है। बाकी लोग चाहे जैसे भी हों, जो भी हों, इसके द्वारा उन्होंने अपना मूल्यांकन करने की ही कोशिश की है।

"रीमा को मालूम पड़ गया कि मैं खंडाला में हूं। वह मेरे एकांत जीवन की ऊब को दूर करने ही यहां आई है। यह तो ठीक है। लेकिन उसने जो कुछ अपनी मां 'सीलू' के बारे में बताया, वह सब झूठ है। मुझे जब यह मालूम हुआ, तो मैं उससे उकता गया। 'मां

को पार्श्ववायु रोग है। चिकित्सा के लिए उसे बंबई ले जाना है'--यह कहकर वह मुझसे पैसा ले गई और मैंने दिया। मुझे तब बिलकुल ऐसा नहीं लगा कि वह झूठ बोल रही है। उस वक्त मेरे पास रुपये थे, इसलिए मैंने दे दिए। सीलू वृद्धा है। बची रहे या न रहे, लेकिन जितने दिन तक जीवित रहती है, उतने दिन तक बेटी को मां की सेवा तो करनी ही चाहिए। क्या मैं रीमा के गुण नहीं जानता? वह काम करती है और उसके उसे पैसे मिलते हैं। मुफ्त में प्राप्त धन की तरह संकट के समय मैंने उसे पैसा दिया। मदद ही क्या? उसके स्नेह का चुकाया गया मूल्य था वह।

''उसके जाने के दूसरे ही दिन उसकी जीवित मां सीलू मेरे घर चली आई तो? उसका घर खंडाला से केवल चार मील दूर लोनावका में ही तो है। साठ साल की वह वृद्धा अब भी जवान लगती है। मेरे घर से एक फर्लांग की दूरी पर स्थित एक पारसी परिवार में काम करने आया करती है प्रतिदिन। सुबह आती है और शाम को लौट जाती है। कहते हैं कि बेटी और मां के बीच का रिश्ता लगभग टूट चुका है। सीलू जाने कैसे मेरे घर का पता लगाकर और जानबूझकर मेरे घर आ गई और पूछने लगी, ''मेरी बेटी कहां है?''

''रीमा आप ही की बेटी है? कहती थी कि आप बीमार पड़ी हैं।'' मैंने कहा।

''तब उसने बेटी के प्रति अपनी नाराजगी का पूरा किस्सा कह सुनाया। आश्रयहीन सीलू अब अकेली है। कहती है कि उसने अपनी बेटी को काफी कठिनाई से पाला-पोसा। उधार मांगकर, लोगों के सामने गिड़गिड़ाकर, चीजें मांग-मांगकर नर्स का काम सिखाया। लेकिन आगे चलकर बेटी अपनी मां को भूल गई। जब बेटे ऐसा कर देते हैं, तो वह तो पुत्री है। जन्म देने वाली मां को ही भूल जाना! सुना है, अभी तक मां को एक दमड़ी भी उसने नहीं दी है। लोनावका जाकर पूछा तक नहीं कि तुम जीती हो या मर चुकी हो! यौवन इसी को कहते हैं! जवानी में आदमी को अपने सिवा और कोई दिखाई ही नहीं पड़ता। मस्ती में झूम रहे पेड़ को क्या अपनी जड़ें दिखाई देती हैं? सीलू चेतावनी देने आयी है, ''वह मेरी बेटी है और मुझे नहीं पूछती, तो क्या आपको या और किसी को वह चाह सकेगी?' यह कहकर सालू चली गई। इसमें अचरज की क्या बात है? जवानी में बचपन की याद नहीं रहती, बुढ़ापे की चिंता की तो बात ही क्या! अपनी बेटी की शिकायत कर रही मां से मैंने उसके काम और जीविका के बारे में पूछताछ की। 'जब तक हाथ-पांव मजबूत हैं, तब तक मेहनत-मजूरी करूंगी और जिऊंगी,' उसने साफ-साफ कहा। सचमुच, एकदम मजबूत वृद्धा है वह। बुढ़ापे में भी हाड़तोड़ काम कर रही है। कह नहीं सकता, उसमें इतना काम करने की ताकत है भी या नहीं! लेकिन इसके चेहरे पर एक प्रकार का हठ झलकता है। इसीलिए वह ऐसे ही काम करके जीविका चला रही है। बेटी तो सहायता करती नहीं। इस तरह जीने के सिवा और कोई चारा नहीं बच गया है। उसकी फटेहाली देखकर जब मैंने उसे पांच रुपये देने चाहे, तो वह बोली, 'मैं इसके लिए नहीं आई हूं। मैं केवल यह

बताने के लिए आई हूं कि आप रीमा पर विश्वास न करें।' इतना कहकर वह चली गई।

"वात्सल्य यदि बिगड़ गया, तो बिगड़कर जहर भी बन जाता है। रीमा ने जानवर की पीठ पर बैठी किलनी को चुगने का-सा रिश्ता बनाया। बदन पर चोंच मारकर एक-दो घूंट खून भी पी लिया हो, तो इसमें क्या आश्चर्य! यही अनुभव हुआ था मुझे उसके बारे में। उस पंछी का स्नेह ही उस तरह का था। खंडाला छोड़कर बंबई जाने से पहले मैंने एक पत्र भी उसके नाम लिखा था— 'तुम्हारी मां मेरे यहां आई थी। तुम्हारे जाने के दूसरे ही दिन मैंने उन्हें स्वस्थ देखा। तुम्हारी मां तुम्हारे बारे में 'मां को भूल जाने वाली क्या आपके प्रति कृतज्ञ रहेगी?' कहकर चली गईं। रीमा मेरे जीवन के रंगमंच से हट जाएगी, केवल इस एक पत्र के कारण। मुझे ऐसा लिखना भी चाहिए था या नहीं, मैं नहीं जानता। 'तुम्हारा धोखा मैं जान गया हूं, मेरा प्रेम इतना अंधा है' यह भाव उस तक न पहुंचे, इसी उद्देश्य से मैंने ऐसा पत्र लिखा था। फिर मेरे नाम उसका एक पत्र आया, 'आप जैसा धोखेबाज मैंने नहीं देखा।' प्रेम को कोई महत्व न देने वाली रीमा को मैं वैसा दिख पड़ा! हो सकता है, मुझमें ही किसी तरह का दोष रहा हो। क्या मैंने उसके साथ धोखा किया है? यदि हां, तो कब? अपना धोखा स्वयं जानना भी तो कठिन है न?"

चार

रीमा की बात यहीं समाप्त नहीं हो गई। यशवंतजी द्वारा बनाए गए ढेर सारे चित्रों में एक चित्र और मिला, जो बिलकुल उससे मिलता-जुलता था। उसी प्रकार खंडाला-प्रवास के बारे में लिखी गई बातें भी अंतिम नहीं थीं। यह मुझे तब मालूम हुआ, जब मैंने उनके रोजनामचे के अगले पृष्ठ पढ़े। उसमें उन्होंने एक अच्छी उपमा दी थी और यह उपमा उसके स्वभाव के बारे में काफी कुछ व्यक्त करती थी, "रीमा एक आर्किड (केली) के पेड़ की तरह है। आर्किड बदनिका की जाति का पौधा है न, जो परायी जाति के पेड़ों पर आश्रित होकर अपना जीवन-विकास करता है। वनस्पति विशेषज्ञों ने जो महत्व आर्किड के फूल को दिया है, वह और किसी फूल को नहीं प्राप्त है। उसका फूल आकार में एकदम विचित्र होता है। दीर्घजीवी होता है और साथ ही अपूर्व सौंदर्य वाला भी। इसीलिए तो उसे सब मानते हैं न? वह जिस पेड़ से मिल जाता है, उसकी सजावट के लिए किसी फूल को नहीं बचा रहने देता। इसीलिए आश्रय देने वाले पेड़ को यह समझने की भी आवश्यकता नहीं है कि बदनिका उसकी प्रेयसी है। हमारे कवियों ने भी तो अपने वर्णनों में मल्लिका लता और आम के पेड़ का मेल कराया है न? मल्लिका अलग, आम का पेड़ अलग; उनका मूल अलग, उनकी जड़ें अलग। जब मैं दांपत्य जीवन के बारे में सोचता हूं, तो लगता है कि नर-मादा,

स्त्री-पुरुष का जीवन मल्लिका-आम्र की तरह ही है। मल्लिका भी आम के पेड़ से लिपटकर 'तुम ही मेरे आश्रय हो' के भाव से उस पेड़ से भी परे अपनी कोमल कोंपलों का विकास करके फलती-फूलती है। वह बाह्य मित्रता देखने में कितनी सुंदर है! कितनी अनुपम है! जलजा का मुझ पर आश्रित होना भी ऐसा ही है न! लंबे समय तक मैंने उनका बोझ अपने ऊपर लिया है। मेरा विश्वास था कि वह केवल मेरे लिए जीवित है। क्या यह सच नहीं है कि वह, मात्र जीवन पूरा करने के लिए मैंने जो आश्रय उसे प्रदान किया है उसका लाभ उठा रही है? अपने सुख के लिए जी रही है? दांपत्य भी तो एक तरह का स्वार्थ ही है न? यह समझ जाने पर भी क्या आम का पेड़ उस मल्लिका लता को खोना चाहेगा? कहते हैं कि दांपत्य एक पारस्परिक संबंध है। इसे भी सुना है और समझने की कोशिश की है, पर मैं यह नहीं जान पा रहा हूं कि यह बात मेरे जीवन में क्यों सच साबित नहीं हुई।

"रीमा तो सोलह आने बदनिका का बीज है। एक पेड़ की शाखा से लगकर विकसित होने की तरह रीमा आगंतुक होकर मेरे पास आई। उसके सौंदर्य और विलास ने मुझे कुछ क्षणों के लिए संतोष भी दिया है। उसके स्वभाव का ज्ञान न होने के कारण, यह जानकर कि वह मुझे धोखा दे सकती है, उसे एक पत्र लिखकर उससे मैंने छुटकारा पाना चाहा था। उसके उलटे जवाब से यह भी लगा कि शायद वह ठीक कहती है। लेकिन सही बात सही ही है। बदनिका बदनिका ही है। पराश्रिता पराश्रिता ही है। जैसे एक पेड़ चाहकर भी बदनिका से मुक्ति नहीं पा सकता, वैसे ही वह मुझसे लिपट गई है। दिखावे के लिए वह कामयाब भी हुई है। परंतु यह कामयाबी नहीं है। दादा की ही तरह उसने भी दुर्बल प्रयत्न किया। वह ओढ़ा गया नाटक था, वास्तविक जीवन नहीं।"

ऊपर की बातों में मेरे मित्र ने अपने दांपत्य जीवन के बारे में और मेरे द्वारा कल्पित 'मेरी' की अच्छी उपमा प्रस्तुत की है, इसीलिए मैंने उनके द्वारा खींचे गए 'मेरी' के चित्र को बार-बार देखा। वह एक पेस्टल चित्र था। एक बड़े कागज पर एक स्त्री का चित्र। बदन और हाथ मुलायम और मांसल थे। वह सजी-संवरी भी थी। पिकासो के 'दि वुमन' नामक चित्र के समान इस चित्र में मांसपेशियां जड़ नहीं दिखाई पड़तीं। तो भी, उन कपड़ों के नीचे उसी तरह का बदन रहा होगा। किंतु वास्तव में 'मेरी' उतनी मोटी महिला नहीं थी। उसका आकार-प्रकार और शरीर गठीला था। पराये शरीर की इच्छा और विषय-लोलुपता ही उसका प्रमुख शील होने के कारण यशवंतजी ने उसका ऐसा चित्र खींचा होगा। केवल उसके धड़ पर किसी षोडशी का चेहरा रखा हुआ लगता था। चित्र का दायां भाग एकदम पीला था और बायां भाग हरा। दोनों रंगों में अपेक्षित मेल नहीं दिखाई पड़ता था। मैंने अपनी ओर से संशोधन करके ही यह समझा था कि यह आकृति 'मेरी' की है। चित्र के पिछले भाग में 'orchid' लिखा था और चित्र पर 'यशवंत' लिखा हुआ था। यह चित्र उनकी मृत्यु के एक वर्ष पूर्व का था। जाने उनकी क्या कल्पना रही होगी! दाहिनी आंख

में मुस्कराहट और शरारत तैर रही थी। बांयी आंख में कनीनी (कनीनिका) तक नहीं थी। एक आंख वाली नारी थी वह। यदि दो आंखों वाली होती, तो शायद परायों के प्रति उसमें दया-भाव होता।

केवल एक वर्ष पूर्व उन्होंने ऐसा चित्र क्यों बनाया? इस घटना ने अवश्य ही उनके जीवन में कोई तूफान उठाया होगा। लेकिन रोजनामचे में ऐसा कोई संकेत नहीं था। इसलिए इस एक पहलू पर अधिक माथा खपाकर यशवंतजी के जीवन को ठीक-ठीक नहीं जाना जा सकता। लेकिन दांपत्य जीवन की जो उपमा उन्होंने दी है और उस बारे में जो विचार व्यक्त किए हैं उनसे मैं सोच में पड़ गया। उसमें मल्लिका और आम के पेड़ की ही उपमा नहीं दी गई थी, बल्कि उसे 'जलजा' नाम से भी संबोधित किया गया था।

इतना तो मुझे सूझ गया कि 'रीमा' तो मेरी है और 'सीलू' उसकी मां लूसी के लिए प्रयुक्त किया गया है। और गणपति उनका नौकर 'दादा' है। 'जलजा' को कितना ही उलट-पलट कीजिए, उससे कोई भी विशेष संकेत नहीं मिल पाता। अपनी पत्नी का नाम वे ज्यों का त्यों दे देंगे, ऐसा मुझे नहीं लगा। अपने भाव-संसार को व्यक्त करने के लिए उन्होंने संकेतों और संज्ञाओं को ही अधिक प्रधानता दी है। 'जलजा' शायद उनकी अपनी पत्नी का नाम रहा होगा। तब वह भी क्या सांकेतिक नाम है? 'कमल' रहा होगा क्या? या 'पंकज' रहा होगा? अथवा 'बनज'? इसी तरह के कोई आठ-दस नामों की मैंने कल्पना की। हां, उन्होंने जो चार-पांच पते अपने रोजनामचे में लिख छोड़े थे, उन पतों पर जाकर और संबंधित व्यक्तियों से मिलकर यशवंतजी के बारे में जानने का कुतूहल मुझ में कायम था।

बंबई से लौटे मुझे दो महीने हो चुके हैं। अन्य कार्यों में व्यस्त रहकर तथा स्वभावगत उदासीनता के कारण मैं अपने मित्र के तमाम आदेशों को भूल-सा गया था। उन्होंने जिन चार व्यक्तियों के नाम प्रतिमाह प्रतिव्यक्ति पच्चीस रुपये भेजते रहने को कहा था, उसे भी मैं भूल गया। जैसे ही मुझे उनकी याद आई तत्काल उनके पते ढूंढ़कर प्रति व्यक्ति पच्चीस रुपये मनीआर्डर से भेज दिए। शेष रह गया था, फुरसत निकालकर उनके गांव जाना। उनके जन्मस्थान, जो स्वादी के समीप एक देहात था, उसके बारे में जानकारी लेना। कुमटा, जहां वे बड़े हुए, में उनके रिश्तेदारों का पता मालूम करना तथा उन्हें यशवंतजी की मृत्यु का समाचार देना। हां, कुमटा में उनकी पत्नी और पुत्र भी तो होंगे। यदि पत्नी जीवित है तो जो कार्य मुझे सौंपा गया है उसे निभा पाना और भी मुश्किल हो जाएगा। पत्नी को पति की मृत्यु का समाचार स्वयं देना कितना मुश्किल काम है! इसलिए मनाने लगा कि यशवंतजी की पत्नी 'जलज' या 'जलजा' की मृत्यु हो चुकी हो तो इससे अच्छा और कुछ नहीं हो सकता। इस प्रकार मैं उनकी मृत्यु की कामना कर रहा था। यह भी खयाल आया कि पति या पत्नी में कोई ठोस संबंध तो बचा भी नहीं रहा है। लेकिन ब्राह्मण

कर्मकांड का वैधव्य-भाव एक बहुत बड़ा घाव है, जिसे आसानी से नहीं भरा जा सकता। इसीलिए तो सुहागिनें अपने पति से पहले मरना चाहती हैं न?

पंद्रह दिन बीत गए, इस ओर मैं कोई प्रयत्न नहीं कर सका। मैंने जो मनीआर्डर भेजे थे, उनकी रसीदें भी आ चुकी थीं। एक रसीद सतारा जिले के महाबलेश्वर नामक स्थान से आई थी। रकम पाने वाले व्यक्ति का नाम विष्णुपंत घाटे था। बाकी तीन व्यक्ति, लगता था, या तो यशवंतजी के संबंधी होंगे या फिर भाई-बांधव। मैंने उनके कागजों की गठरियां खोलकर कुछ रसीदें देखीं। उन चारों को कई बार रुपये भेजे गए थे। उनमें से तीन दस्तखत करना जानते थे, दो के हस्ताक्षर कन्नड में थे। विष्णुपंत घाटे ने मराठी में दस्तखत किए थे। स्वादी के समीप स्थित बेनकनहल्ली नामक गांव की चोच्चलुमने पार्वतम्मा की रसीद में अंगूठे का निशान लगा था। उसकी गवाही भी थी। वह कोई अनपढ़ वृद्धा होगी। स्वादी में यशवंतरायजी के जन्मस्थान से काफी निकट था वह स्थान। वह वृद्धा उनकी कोई रिश्तेदार होगी, जिसके लिए दया-भाव से वह पैसे भेजते रहे होंगे। यदि मुझे यशवंतरायजी के बारे में कुछ जानना है, तो सबसे पहले इसी वृद्धा से मुलाकात करनी चाहिए। ऐसा मैंने तय किया।

उसके अंगूठे के निशान की तीन-चार पावतियां देखीं। हर पावती पर 'शंभु भट्ट' नाम के आदमी की गवाही दिखाई पड़ी। अंगूठे के निशान के लिए गवाही की जरूरत तो पड़ती ही है। मैंने जो रुपये भेजे थे, उनकी रसीद पर पावती के अंगूठे का साक्ष्य शंभु भट्ट ने ही दिया था। शायद पार्वतम्मा का कोई रिश्तेदार है। मेरी कल्पना यहीं तक दौड़ सकी। मुझे पावती में जो रसीद मिली है, उसमें अंगूठे का निशान भिन्न लगता था। लेकिन साक्षी की लिखावट उसी प्रकार थी : 'यह अंगूठे का निशान पार्वतम्मा का है।' लेकिन पहले के निशानों से तुलना करने पर साफ लगता था कि यह अंगूठे का निशान किसी और का है। पहले निशानों में रेखाएं चक्राकार हैं, इस निशान की रेखाओं की आकृति शंख की है। कहीं बायें हाथ के बदले दायें हाथ के अंगूठे का प्रयोग तो नहीं किया गया है? नहीं, ऐसा भी नहीं लगा। तो फिर यह क्या गड़बड़ है? मेरे मन में शंका उत्पन्न होने लगी। एक महीना और चुप रहा और प्रतीक्षा करता रहा। पुनः रुपये भेजे। पावती समय पर आ गई। उस पर भी शंभु भट्ट की ही गवाही थी। फिर उस निशान की आकृति शंख की थी। तो इसका मतलब यह हुआ कि यशवंतरायजी से पैसा पाने वाले व्यक्ति अलग-अलग हैं। यही तो हुआ न? लगा कि शंभु भट्ट संदिग्ध व्यक्ति है। मेरे द्वारा भेजे गए रुपये इसी व्यक्ति के हाथ पड़े हैं। मैं नया आदमी हूं। उसने कहीं दूर रहने वाले यशवंतरायजी को धोखा नहीं दिया है, यह मैं कैसे मान लूं? मैंने निश्चय किया कि जब तक मुझे यह पक्का विश्वास नहीं हो जाता कि यह आदमी रुपयों का सही प्राप्तकर्ता है तब तक उसे रुपये नहीं भेजने चाहिए। अगले माह मैंने पैसा नहीं भेजा। बाकी तीनों व्यक्तियों को पैसा भेज दिया। फिर

स्वादी हो आने पर विचार किया। वर्षा ऋतु निकट थी, बरसात में पहाड़ी इलाकों में रहना अच्छा नहीं होता। कई स्थानों तक बस पहुंचती ही नहीं। पगडंडी से होकर जाना पड़ता है। इस कार्य के लिए मुझे सात-आठ दिन तो चाहिए ही...यह समझकर चुप बैठा रहा। इसी तरह दो महीने बीत गए। मुझे वहां से चेतावनी-भरा एक पत्र आया। उसमें लिखा था :

"मान्यवर,

यशवंतरायजी की ओर से भेजे गए पच्चीस रुपये मिले थे। हम समझते हैं कि यशवंतरायजी स्वस्थ हैं? उन्होंने आप से अगस्त-सितंबर में रुपये भेजने को कहा होगा। आप भूल गए हों शायद। इसीलिए यह पत्र लिखा है। आप अन्यथा न लें। इस माह और पिछले माहों के कुल पचहत्तर रुपये भेज दें, तो आप का बड़ा उपकार होगा। या आप यशवंतरायजी का पता हमें दे दें, तो हम उन्हें लिखेंगे। वह यदि आपके यहां रह रहे हैं तो उनसे कहिए कि आपकी दादी पार्वतम्मा मरने से पहले कम-से-कम एक बार आप को देखना चाहती हैं।" पत्र के निचले हिस्से में लिखा गया था कि "यह अंगूठे का निशान पार्वतम्मा का है।" और यह भी कि "यह पत्र पार्वतम्मा की ओर से लिखा गया है।"

पार्वतम्मा यशवंतरायजी की दादी है, यह जानकर मेरा कुतूहल बढ़ने लगा। वह उनके पिता की मां नहीं हो सकती। नानी या कोई और सगी रिश्तेदार होगी। यशवंतरायजी की उम्र मृत्यु के वक्त 65 वर्ष थी। और इस वृद्धा को कम-से-कम 20 वर्ष बड़ा होना चाहिए। काश, मैं उसे देख पाऊं! मुझे लगा कि यह काम शीघ्र किया जाना चाहिए।

तब अक्तूबर का महीना बीतने को था। वर्षा का जोर काफी कम हो चुका था। अकसर धूप निकल आती थी। आसमान में सफेद बादल हंसते-मुस्कराते-से लगते थे। नवरात्रि के दूसरे दिन ही सिरसी की ओर रवाना हो जाना चाहिए। वहां से स्वादी जाकर उस गांव में चोच्चल घर को ढूंढ़ना चाहिए। वृद्धा के दर्शन भी हो जाएंगे और यशवंतरायजी के बचपन की बहुत-सी बातें भी मालूम हो जाएंगी। इस तरह की बातें मैं सोचता रहा। फिलहाल उसके पत्र का जवाब दे देना चाहिए। उसको रुपये भी भेजने चाहिए न? लेकिन मेरे मन ने इस बात को नहीं स्वीकारा और यह संदेह उठने लगा कि पार्वतम्मा मर चुकी है। शंभु भट्ट ने रकम के लालच में किसी और वृद्धा के अंगूठे का निशान लगवा लिया होगा। मुझे लगा कि रुपये नहीं भेजने चाहिए। मरने से पहले यशवंतरायजी को देखने की जो इच्छा वृद्धा ने प्रकट की है, क्या वह सच है? उन्हें गांव छोड़े अनेक वर्ष बीत चुके हैं। इन वर्षों में एक बार भी उसे उन्होंने नहीं देखा था। केवल औपचारिकता के लिए यह दिखाया गया है कि वह अभी मरी नहीं है। रुपये भेजने वाले यशवंतरायजी नहीं हैं, मैं हूं यानी एक अज्ञात व्यक्ति। इससे शंभु भट्ट का साहस बढ़ गया होगा। मैं इस नतीजे पर पहुंचा कि किसी और के अंगूठे का निशान लेकर धोखा किया गया है।

मैं नवरात्रि के दिनों की प्रतीक्षा में था। सिरसी से व्याख्यान के लिए मित्रों का एक निमंत्रण मेरे पास पहुंचा। उसे मैंने तुरंत स्वीकार कर लिया। मैं जानता था कि स्वादी वहां से केवल 10-12 मील की दूरी पर है। स्वादी प्राचीन ऐतिहासिक स्थान है। बेनकनहल्ली ग्राम भी वहां से दूर नहीं पड़ेगा। अगर यह हो जाता है, तो पहाड़ी प्रदेश में, जंगलों-पहाड़ों की गोद में विहार करने का अवसर भी मिल जाएगा, जो मेरे लिए अत्यंत संतोष की बात है।

सोचा कि नवरात्रि के बाद सैर का कार्यक्रम बनाऊं। बस, नवरात्र बीता और मैं सिरसी गया। और वर्षों की तरह इस वर्ष भी वहां मेरे व्याख्यान का प्रबंध किया गया था। दो दिन तक एक मित्र के घर ठहरकर मैंने दो व्याख्यान दिए और आगे के कार्यक्रम पर विचार करने लगा। सौभाग्य से बरसात ने भी अपना जोर गंवा दिया था। दिन में एक बार कुछ समय के लिए झड़ी लगती और गायब हो जाती। उस प्रदेश के पर्वतों पर हरियाली छा गई थी और वे अत्यंत आकर्षक लगते थे। जिस ओर देखें, वहीं जंगल; टीले जहां नहीं थे, वहां हरी घास बिछी थी। इधर-उधर नदियां बह रही थीं, नीर के नाले बह रहे थे और पानी एकत्र करके बनाई गई झीलें मन को मोह लेती थीं। झरनों से छहराता हुआ पानी झर रहा था। जिस भी ओर आप निकल जाएं, बहते नीर का कलकल स्वर आप के साथ रहेगा। ऐसे दृश्य मुझे बहुत पसंद हैं। मेरी पसंद धीरे-धीरे चलकर, इधर-उधर निगाहें घुमाकर रस लेने वाले आलसी की-सी है। यह पहाड़ी इलाका मुझसे भी अधिक आलसियों से भरा था। सारा जनजीवन ही वैसा हो चला था। लोगों की चाल और चरते हुए पशुओं की चाल एक समान थी। और वह भी पहाड़ी प्रदेश की भैंसें! बरसात आने पर चारों ओर चारा ही चारा रहता है। गरीब किसानों की कमजोर भैंसें मोटी-ताजी होकर पानीदार गड्ढों में लोट लगातीं और जल स्तंभन करने लगतीं। आलसी भैंसें अपनी चर्या में हमारी ही तरह जड़ हैं। लेकिन उनका मन भी जड़ है क्या? शायद नहीं। उनको भी तो सुख-शांति चाहिए न! पानी उनको कितना पसंद है! पानी में उतरकर केवल सिर बाहर निकाले तैरते रहने वाले ये पशु रसिक क्यों न होंगे! उसमें भी थोड़ी धूप निकल आए, तो क्या कहना! उनको ये तालाब और तड़ाग तृप्ति देते होंगे। खाना-पीना सब कुछ भूलकर वे पानी में ही लोटती रहती हैं। आंख मूंदकर आनंद लेती हैं। 'यही सुख है', 'यही दुख है', कहते हुए निर्विकल्प समाधि से भी बढ़कर आनंद लूटती हैं।

सिरसी पहुंचकर मेरी हालत भी उन्हीं की तरह हो गई थी। खाने-पीने और सोने में ही दिन कटने लगे। शंभु भट्ट की गवाही सच है या झूठ, पार्वतम्मा का मरना सच है या झूठ—इस पर सोचने की इच्छा ही नहीं हुई। यशवंतराय ने जो रुपये भेजे, वे इन लोगों के नाम दंडस्वरूप भेजे गए होंगे। मैं क्यों इसके बारे में जासूसी करूं? यह भी मैंने एक बार सोचा। उनके प्रेम की पात्र वह वृद्धा कैसी होगी? किसलिए वह उसे रुपये देते रहे?

उस बूढ़ी के साथ उनका क्या रिश्ता रहा होगा? यह जानने का कौतूहल न होता, तो शायद मैं भैंस की तरह दो-चार दिन सिरसी में ही पड़ा रहता। एक बार मन में आया कि यदि कोई स्वादी से सिरसी आया हुआ हो तो उसकी तलाश करूं और उसी से पूछताछकर वापस क्यों न लौट जाऊं? लेकिन आत्मा नहीं मानी और मैं अपने कार्यक्रम पर निकल गया।

स्वादी तक दो बैलों के एक छकड़े में गया। मुझे महसूस हुआ कि इस छकड़े में सारी रात यात्रा कर पीठ की हड्डियां और रीढ़ तुड़ाने से तो अच्छा है कि मैं पैदल चलूं। वहां पहुंचने के बाद भी पैदल चलना ही पड़ा। वहां से दो कोस की दूरी पर था बेनकनहल्ली ग्राम। वहां तक ले जाने वाले मार्ग के बारे में क्या बताऊं? जंगलों से होकर जाता है। बरसात में तो सारा मार्ग कीचड़ तथा सड़ी चीजों की दुर्गंध के कारण असह्य हो उठता है। कोस-भर तो किसी आदमी का मुंह तक देखने को नहीं मिला। उसके बाद जो भी मिला, उसने बताया, "वह बेनकनहल्ली ग्राम! करीब ही है।" चल-चलकर पांवों में छाले पड़ गए, फिर भी गांव नहीं दिखाई पड़ा। ऐसे पहाड़ी प्रदेश में ग्राम शब्द तो ग्रामाधिकारी की पुस्तक में ही मिल सकेगा। एक घर इस पहाड़ के सिरे पर है, तो दूसरा कंदरा की तलहटी में। एक घर से दूसरे घर तक कोई चौथाई मील की दूरी है। कहीं-कहीं दो घरों के बीच आधे मील का फासला भी होता है। रास्ते में ढोर चराने वाला एक बूढ़ा दिखाई पड़ा। उसने बताया कि यही बेनकनहल्ली ग्राम है। तब दुपहर हो चुकी थी। हरी घास पर पसरा हुआ वह बूढ़ा भूपति पान चबा रहा था। उसने कह तो दिया कि बेनकनहल्ली यही है, लेकिन वहां एक भी घर नहीं दिखाई देता था। उसकी बात से मुझे थोड़ा आश्चर्य भी हुआ। कम-से-कम उसका तो एक घर होना ही चाहिए। लेकिन ढोर हैं, वह है, तो गांव भी होगा ही। "सचमुच यह बेनकनहल्ली है क्या? यहां ब्राह्मणों के घर हैं?" मैंने पूछा। उसने थोड़ी दूर पर स्थित एक गांव की ओर इशारा किया। उसने बताया कि आगे दिखाई पड़ रहे बांस के झुंड में एक बेनकन मंदिर (गणेश का मंदिर) है। चतुर्थी के दिन बच्चे हंसी-खुशी कहते हैं 'बेनक, बेनक, वज्रदंत पाणिपीठ।' इसी पर उसका नाम 'बेनकनहल्ली' (गजानन गांव) पड़ गया है।

मैंने पूछा, "शंभु भट्ट का घर जानते हो?"

"चोच्चक घर वाले?" उसने थोड़ी देर सोचकर पूछा।

"हां, हां, वही।"

"चोच्चक घर दो हैं। ऊपर का चोच्चक घर, नीचे का चोच्चक घर। आप किसके बारे में पूछ रहे हैं– शंभु हेग्गड़े या राम हेग्गड़े?"

"हेग्गड़े नहीं, शंभु भट्ट जी।"

"हां, तो वह ऊपर के चोच्चक घर में रहते हैं। उनका घर यह पहाड़ उतरते ही मिल जाएगा। नीचे का चोच्चक घर थोड़ा और दूर है। लेकिन आप तो कहते हैं, हेग्गड़े नहीं, ...भट्ट हैं।"

"महाशय, मैं थक चुका हूं। हेग्गड़े हों तो हेग्गड़े, भट्ट हों तो भट्ट ही सही! पहले नजदीक के किसी ब्राह्मण का घर बता दो, तुम्हें पुण्य मिलेगा।"

"यजमानजी, आपके पास तंबाकू होगा?"

"मैं तंबाकू वगैरह नहीं खाता हूं।"

"क्या मुझे आपके साथ वहां तक चलना होगा? ये जानवर बिलकुल बेवकूफ हैं। कहीं निकल गए तो?"

जेब में से दुअन्नी निकालकर मैंने कहा, "महाशय, एक उपकार तो कर दो। मुझे नजदीक के किसी ब्राह्मण का घर बता दो। वहां से मैं खोजते हुए चोच्चक या स्नानागार जो भी मुझे चाहिए, वहां चला जाऊंगा।"

"सचमुच, आप मुझे पैसा दे रहे हैं?" बूढ़े ने पूछा।

"हां, लो। पहले यही लो। घर की वजाय शेर की मांद ना दिखा देना, समझे!"

"आप बाजार वाले दिखाई पड़ते हैं और शेर से इतना डरते हैं! शेर मनुष्यों का क्या करता है?"

उसने हाथ में लकुटिया उठा ली और "तो आइए!" कहकर मेरा मार्गदर्शक बन गया वह। मैं उसके पीछे-पीछे चलने लगा। चौड़ा रास्ता छोड़कर और भी तंग पगडंडी से जब वह मुझे बांस के झुरमुट के पास से ले जा रहा था, तब मुझे वास्तव में शेर का भय होने लगा। रास्ते में एक टूटा-फूटा मंदिर मिला। उसका छप्पर टूटा हुआ था। अतः भीतर स्थित बेनकय्या (गणेशजी) का प्रतिदिन वर्षा के जल से अभिषेक होता था। बूढ़ा उस मंदिर के सामने रुक गया और गणेशजी को नमस्कार करके पहाड़ी रास्ते पर उतरने लगा। उसके हाथ में लकुटिया थी। चिकनी मिट्टी में उसकी टेक लेते हुए वह "आइए, आइए" कहता उतर रहा था। मेरे पांव कीचड़ से सन चुके थे। इस ओर, उस ओर कीचड़-ही-कीचड़ था। जिस चीज को छुओ, वही गिलगिली। यहां पैर टिकाओ, तो कीचड़ में फिसलकर उस ओर पहुंच जाता। बहुत खराब ढलान था। एक-दो बार फिसलकर गिरा भी। कीचड़ से भी सना। शंभु भट्ट को भी कोसा। पार्वतम्मा को भी एक-दो सुनाई। कुछ ही समय बाद ढलान समाप्त हो गई। मैं कीचड़ से भरे एक आंगन में खड़ा हो गया। बूढ़ा मुझे घर के पिछवाड़े की ओर गोठ में ले गया था। गोठ और उसका घना रिश्ता है न? वहीं से उसने आवाज दी, "हुजूर, कोई पराये गांव से आए हैं!"

आवाज सुनकर एक मध्यम वय का आदमी वहां आया। सिर से पांव तक उसने मेरा निरीक्षण किया, परंतु मैं उसे उसकी तरह नहीं देख सकता था। दुबला-पतला आदमी, चेहरे पर घनी दाढ़ी, बदन पर लंगोटी के सिवा कोई कपड़ा न था। उसको देखते ही उसके घर में भोजन करने की जो मेरी इच्छा थी, वह गायब हो गई।

उसने मुझसे लगातार कई प्रश्न पूछ डाले, "आप कौन हैं? किसको चाहते हैं? कहां के हैं?"

''क्या चोच्चक घर यही है? इस गांव में पार्वतम्मा नाम की कोई वृद्धा होगी न? उसी से मिलने आया हूं। कुछ काम है।''

''ऊपर का चोच्चक घर तो यही है, पर यहां पारोती नाम की कोई नहीं है। किसलिए आए? बहुत दूर के हैं क्या? उनके नातेदार हैं?'' आदि प्रश्न वह मुझसे पूछता रहा। भला आदमी मुझसे खड़े-खड़े ही बात कर रहा था। प्रश्न पर प्रश्न फेंक रहा था। कीचड़ से लथपथ मेरे असह्य रूप को देखकर शायद वह मुझे भीतर नहीं ले जाना चाहता था।

''तो मैं चलूं।'' कहकर मैं आगे की राह पकड़ने ही वाला था कि सौभाग्य से कुछ दूर खड़े धोती में लिपटे एक बूढ़े ने, जो शायद उसी घर का रहा होगा, कहा, ''बेटा, तुम्हें अक्कल नहीं है। कोई पराये गांव वाला तुम्हारे दरवाजे पर आए और तुम उसे गोठ के सामने खड़ाकर अपना पंचांग खोले हो!'' इतना कहकर उस बूढ़े ने मेरी ओर नजर घुमाई और कहने लगा, ''आइए, आइए! घर चलें। बेचारा तिम्म आपको ढोरों वाले रास्ते से ही ले आया! आप कीचड़ में फिसलकर गिर पड़े होंगे? तिम्म के पास उतनी ही बुद्धि है, जितनी जानवरों को होती है।'' इस तरह सहानुभूतिपूर्ण ढंग से बात करता हुआ वह मुझे अपने घर ले गया। घर का चौपाल साफ-सुथरा था। उस बूढ़े का नाम था शंकर हेग्गड़े। लंगोटधारी व्यक्ति उनका पुत्र था–शंभु हेग्गड़े। पिता की डांट सुन चुकने के बाद वह लड़का चटाई लाया और मेरे लिए पानी का एक लोटा भी। आवभगत करते हुए बोला, ''आइए, हाथ-मुंह धो लीजिए।''

मैंने आंगन से ही खड़े-खड़े कहा, ''ऊपर आने से पहले इस कीचड़ को धो लूं। फिर कपड़ा बदलना चाहिए, नहाना चाहिए। थैले पर भी काफी कीचड़ लग गया है।'' पसोपेश में खड़ा मैं आगे-पीछे देखने लगा। वह बूढ़े महाशय अंदर से हाथ में दो धोतियां ले आए और पूछने लगे, ''ब्राह्मण हैं न?'' मैंने स्वीकार में सिर हिलाया। ''तो नहाकर ही आइए,'' उन्होंने कहा, ''आपके शरीर को भी थोड़ा आराम मिलेगा। शंभु, इस धोती को स्नानघर में रख आओ।''

आंगन से स्नानघर तक पहुंचने में मुझे जैसी पूरी गंगा पार करनी पड़ी। पूरा आंगन जलप्लावित था। यहां-वहां पार जाने के लिए रखे तख्तों, पत्थरों तक पर पानी बिछ गया था। किसी तरह स्नानघर तक पहुंचा। एक पत्थर के हौज में ठंडा पानी था। हंडे में गरम पानी खौल रहा था। अंदर अंधेरा-ही-अंधेरा था। पहाड़ी इलाकों में गरम पानी से स्नान में सुख मिलता है– यह मैंने पहले से सुन रखा था। पहले मैंने अपने कपड़े धोए। उसके बाद थैला खोला। थैले में जो कपड़े थे, उन पर भी कीचड़ लग गया था। उन्हें भी धोया। घर के मालिक के दिए हुए कपड़े पहनने की इच्छा नहीं हो रही थी, तो भी स्नान करने के बाद उन कपड़ों की आवश्यकता से मैं बच न सका। धोतियों के किनारे लाल थे। पुराने समय में विवाह, उपनयन आदि के अवसर पर पुरोहित लोग ऐसी ही धोतियां पहना करते

थे। सिरसी, यल्लापुर के लोग आज भी वैसी ही धोतियां पहनते हैं। एक धोती में शरीर को लिपटाकर और दूसरी को ऊपर से ओढ़कर जब मैं स्नानघर से बाहर निकला, तो अपने पर मुझे हंसी आ रही थी, मैं भी पुरोहित ही लग रहा हूंगा न?

घर के यजमान मेरा वेश देखकर शायद काफी पुलकित हो उठे। "आप उडुपि इलाके के हैं न? यह देखिए, हम ब्राह्मणों की धोती का कमाल! पैंट, पाजामा और शर्ट में आप अच्छे नहीं लगते थे। अब देखिए, आप कैसे लग रहे हैं? बुरा न मानिएगा। आपको देखने पर सोचा था, न जाने किस जात के हैं? इन कपड़ों से यह साफ लग जाता है कि आप ब्राह्मण हैं।" बूढ़े व्यक्ति की इन बातों को सुनकर मैं हंस पड़ा। उस दिन वह वृद्ध ही अधिक बोलते रहे। उनके पुत्र की उम्र चालीस वर्ष से कुछ ही कम होगी। पिता की एकमात्र आशा की तरह उनका वह इकलौता पुत्र टिमटिमा रहा था। उसके और वृद्ध के स्वभाव में जमीन-आसमान का फर्क था। बूढ़े की उम्र कोई सत्तर वर्ष के करीब होगी। उनका चेहरा भरा हुआ था। सिर के सारे बाल पक चुके थे। छोटी दाढ़ी और जरा-सी मूंछें और वे भी पकी हुई। उनके चेहरे पर कुल-शील की कांति झलकती थी। उनकी वाणी में काफी मधुरता और विनय थी। अतिथि के प्रति उनका आदर भाव भी अनूठा था। पहले मुझे उन लोगों ने भोजन कराया। क्षमा-याचना के स्वर में वह वृद्ध कहने लगे, "गरीबों का घर है। थोड़ी-सी तरकारी है। भूख ही आदमी की रुचि है, जायका है। आपको भूख लगी होगी, यह समझकर पहले आपको चाय-शरबत पिलाने की बजाय खाना ही भेंट किया।"

भोजन अच्छा बना था। इसका कारण, हो सकता है, उन वृद्ध महाशय के शब्दों में, मेरी भूख ही रही हो। भोजन में सुखाए गए कटहलों की नमकीन तरकारी, नमक के पानी में तैयार की गई आम की कढ़ी और पापड़, बड़ी, मट्ठा आदि थे। भोजन के बाद हम बाहर आए। पान-सुपारी की तश्तरी मेरे सामने रख दी गई। मैं पान-सुपारी मुंह में डालकर पागुर करने लगा। फिर वह बोले, "आपको नीचे के घर की पार्वती को देखने जाना है न? काफी समय है। थोड़ा सो लीजिए। पहले अपनी थकान दूर कर लीजिए। किसी काम से आए हैं या ऐसे ही?" इतना पूछकर उन्होंने मुझसे फिर सोने का आग्रह किया। उधर थकान और इधर पेट-भर भोजन, दोनों नींद के लिए मजबूर कर रहे थे। मैं लेट गया। पिछली रात गाड़ी में मैं सो नहीं पाया था। इसलिए मुझे काफी गाढ़ी नींद आई होगी। उठा तो देखा कि सूर्य पश्चिम के एक कोने पर ऊंघ रहा था। कितनी देर तक सोया रहा! मुझे आश्चर्य हुआ। इतने में घर के यजमान आए। गरम पानी का एक लोटा भी आया। "मुंह धो लीजिए।" उन्होंनें कहा और मैं मुंह धोने लगा। फिर मेरे सामने जलपान की चीजें आईं। कांसे की लुटिया में एक कप काषाय (धनिया-जीरा की बुकनी से बना पेय) भी दिया गया। एक तश्तरी में कुछ छोटे-छोटे केले थे। साथ में तले हुए कटहल की कुछ फांकें भी थीं। उनके लिए भी यही उपाहार आया था। मैंने कहा, "मेरा काम तो हो गया है न?" वह हंसे और बोले, "मराठी में एक कहावत है, 'आदि पोरोबा, नंतर विठोबा।' अर्थात पहले

पेट की पूजा, उसके बाद बिठोबा की। सो, पहले जलपान हो।" जलपान भी हो गया।

उसके बाद मैंने कहा, "अब मुझे पार्वतम्मा के घर का रास्ता बताएंगे? आपको आने की आवश्यकता नहीं। आप काफी वृद्ध हो चुके हैं। अपने पुत्र को या नौकर को भेज दें, तो मेरा काम चल जाएगा।" अभी तक उन्होंने अपने बेटे की तरह मेरे उद्देश्य के बारे में कुरेदकर सवाल पूछना शुरू नहीं किया था। सिर्फ इतना पूछा था कि मैं किस गांव का हूं। मैंने बता दिया था। मेरी भूख और थकावट मिट जाने के बाद उन्होंने पूछने की सोची होगी। फिर मैं एकाएक धूप में सुखाने के लिए डाले गए कपड़ों को उठाने चला गया। उनके दिए कपड़े उतारकर अपने कपड़े पहने और तैयार हो गया, तो उन्होंने कहा, "आप इसे अन्यथा न लें। आप तो बहुत दूर के गांव के हैं। उडुपी की तरफ के हैं न? दूर ही हुआ। इस गांव और उस गांव के बीच कोई संबंध नहीं दिखाई देता। आपके कोई पूर्वज इस गांव से वहां चले गए थे क्या? नहीं तो आप पार्वतम्मा से परिचित कैसे हैं?"

"मैं अपने काम के लिए यहां नहीं आया हूं। यशवंतरायजी नाम के अपने एक मित्र के काम से आया हूं। वह इसी तरफ के हैं। उनके और इस वृद्धा के बीच शायद कोई संबंध है। उन्होंने मुझसे कहा है कि उसके स्वास्थ्य का पता लगाकर उन्हें लिखूं। अपने एक काम से सिरसी आया था तो सोचा, इस गांव को भी देख लूं। इसीलिए आया हूं।" मैंने थोड़ा झूठ बोला। मुझे डर था कि सच बोलने पर मुझे उन दो अंगूठे के निशानों की सचाई का पता नहीं लग पायेगा। झूठ बोलने के पीछे यही कारण था। वृद्ध ने सोचकर कहा, "यशवंतरायजी?" फिर कुछ रुककर बोले, "रायजी, पायजी कहने का रिवाज हमारे यहां नहीं है। यहां ब्राह्मणों को भट्टजी, शास्त्रीजी, हेग्गड़ेजी के नाम से पुकारा जाता है।"

"रायजी तो मैंने अपनी ओर से जोड़ा है।"

"सो, यह कहिए न कि उनका नाम यशवंत है! कहां रहते हैं?"

मैं पसोपेश में पड़ गया कि क्या कहूं— बंबई में रहते हैं या रहते थे? फिर वही बोले, "हमारे कुटुंब में ही यशवंत नाम का एक लड़का था। मेरे बचपन के समय की बात है यह। कुटुंब क्या, हमारे घर में ही कहिए। ऐसी बात नहीं है कि एक ही नाम के दो आदमी न होते हों, पर यह यशवंत तो मर चुका होगा। वह और मैं चचेरे भाई हैं। बहुत पहले ही हमारी जायदाद का बंटवारा हो चुका था। देखिए, हमारे घर के उस तरफ वह बांसों का झुरमुट है न, वहीं उसका मकान था। वह घर नष्ट हो चुका है, और उसकी जगह बांसों का वह झुरमुट उग गया है। अब आप ही सोचिए, कितने वर्ष हो चुके होंगे! हो गए न काफी वर्ष?"

"इस गांव के और घरानों में उस नाम का कोई और व्यक्ति है क्या?"

"चोच्चक कुटुंब में तो कोई नहीं है। चोच्चक घर हमारे घर का नाम है। और एक चोच्चक नीचे ढलान पर है। वह हमारे पूर्वजों का निवास-स्थान रहा है। वह भी हमारा ही

है। हमारे कुटुंब का यशवंत यहां से कहीं चला गया था।"

"जब वह गए, तो उस वक्त उनकी कितनी उम्र होगी?"

बूढ़े ने माथे पर हाथ रखकर सोचा और अपने बचपन की घटनाओं को याद करता हुआ बोला, "उसके और मेरे बीच कोई चार-पांच वर्षों का फर्क है। वह मुझसे छोटा था। उसका विवाह भी यहीं हुआ था। तब उसकी उम्र कोई बीस वर्ष होगी। हां, इतनी ही होगी। हम लोगों का पहले बड़ा कुटुंब था। संख्या में बड़ा नहीं, संपन्नता के लिहाज से बड़ा। हम अच्छे संपन्न थे। अब देखिए, हमारी जायदाद का आधा हिस्सा जंगल हो गया है। यशवंत ने कर्ज ले लिया था, कर्ज चुकाने के लिए उसने यह जायदाद गिरवी रख दी और खुद गांव छोड़कर चला गया। पत्नी के गांव चला गया, यानी कुमटा चला गया।"

"पत्नी का नाम?"

"किसको याद है? विवाह के बाद उसका गौना हुआ। गौने के चार दिन बाद तक लड़की हमारे घर में रही। यह भी ठीक-ठीक याद नहीं। उसके और मेरे पिता के बीच काफी झगड़ा था। दायादि बंधुता ऐसी ही है! आप कहते हैं कि यशवंत अभी तक जीवित है? नहीं जी, नहीं। हो ही नहीं सकता। एक बार सुना था कि कुमटा जाकर उसने सुपारी की एक कोठी बना ली है। सो भी, बहुत दिन पहले। मैं जीवन में केवल एक बार कुमटा गया हूं, बस। वहां मेरा क्या काम? उस ओर मेरा कोई संबंधी भी नहीं है। कोई खरीददारी या बिक्री का काम हो तो हम लोग या तो सिरसी चले जाते हैं, या फिर यल्लापुर। ये दोनों जगहें हमें नजदीक पड़ती हैं। सुनी-सुनाई के आधार पर कहना हो तो कहा जा सकता है कि वह कुमटा में बस गया था। वहीं उसने व्यापार किया; वहीं बाल-बच्चे पाले-पोसे। उसके बाद विरक्ति पैदा हो जाने पर काशी या हरिद्वार जाकर प्राण त्याग दिए थे। आप जिस यशवंत की बात कर रहे हैं; वह कौन हो सकता है जी? और दूसरा तो यशवंत नाम का कोई है नहीं हमारे नजदीकियों में। आपके यशवंत की उम्र कितनी होगी?"

"उनकी आयु आपसे कोई आठ-दस वर्ष कम होगी।"

"आप उसे अच्छी तरह जानते हैं?"

"थोड़ा-थोड़ा जानता हूं। बंबई में उनसे परिचय हुआ। पार्वती का उनसे क्या संबंध है?"

"दूर से या समीप से वह उसकी नानी या दादी लगती है। उसका हाल पता करने के लिए उसने आपको कहा है क्या? इसीलिए आपका यहां आना हुआ? ठीक है। उसने आपसे कहा और आपने मान लिया, तब आपका वहां जाना ठीक ही है। परंतु अब समय काफी हो चुका है। उस पार्वती का घर क्या, एक झोंपड़ी है। वहीं एक दूसरे ब्राह्मण का घर है। अच्छी तरह देख भी नहीं सकती। ऐसी बूढ़ी के घर अब झुटपुटे में क्या जाना? एक रात हमारे यहां ठहर सकते हैं न? सवेरे जाने से काम नहीं चलेगा?"

इस प्रश्न का क्या उत्तर दूं? मुझे अपने मित्र की जन्मभूमि अपनी आंखों के सामने ढेर हो चुकी दिखाई दे रही थी। मेरे मित्र कोई और यशवंतराय नहीं हैं, यही हैं। यशवंतराय जी की शादी कुमटा से ही हुई थी। वहां घर भी बसाया था उन्होंने। परंतु विरक्त होकर काशी या हरिद्वार चले गए थे, यह बात गलत है। उनकी मृत्यु दूसरी तरह से हुई। जिन लोगों से उनकी नहीं पटती थी, उन्होंने ही उनकी मृत्यु का समाचार फैलाकर अपना उल्लू सीधा किया होगा और उनकी मृत्यु से पहले ही! जन्मभूमि छोड़कर चले गए यशवंतराय के बारे में उसके बड़े भाई द्वारा फैलाई गई खबर पर यदि शंकर हेग्गड़े विश्वास कर चुका हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। चालीस वर्ष बीत चुके हैं, तब की बात है यह। बूढ़ी पार्वती के साथ उनका रक्त-संबंध है, तो इनकी भी तो वह रिश्तेदार हुई न? लेकिन यहां तो ऐसा नहीं लग रहा है। उनकी पत्नी का गांव तो और भी दूर है। इसलिए वह पार्वती, शंकर हेग्गड़े की 'पारोती' उनके बचपन की संगिनी रही होगी, ऐसा विचार मेरे दिमाग में घर करने लगा।

सांझ हो चुकी थी, उस अंधेरे में एक या आधी मील का बीहड़ रास्ता तय करके उसके घर तक पहुंचना मुझे काफी मुश्किल लग रहा था। आखिर मैं जिसकी खोज में यहां आया हूं, वह जीवित है। उसके स्थान पर किसी दूसरी बुढ़िया के अंगूठे का निशान नहीं लगवाया गया है। यह सचाई मालूम हुई। परंतु गवाह शंभु भट्ट से मैं अधिक परिचित नहीं था। उसने पूरा धोखा किया है, यही भाव मेरे मन में आया था। मैं घर के यजमान के प्रश्न का उत्तर दिए बिना दूर-दूर की उड़ाने भर रहा था, अन्यमनस्क हो चला था। तभी उन्होंने फिर पूछा, "अभी वहां जाकर क्या करेंगे? सुबह जाना ठीक रहेगा, है न?" मैंने "हां" कह दिया। मेरा मन उस पहाड़ी प्रदेश के जंगल की भांति स्तब्ध हो गया था। बांस के झुरमुटों और पेड़ों से लटकती जड़ों ने एक हरा-मंडप-सा बना रखा था, उसी को देखकर मैं विचार-मूढ़ हुआ जा रहा था।

शंकर हेग्गड़े ने कहा, "शाम हो गई है। थोड़ी देर में सांध्यकालीन उपासना पूरी करके आता हूं। आप बैठे रहिए।" कहकर वह मुझे छोड़कर चले गए। उनके चले जाने के तुरंत बाद शंभु हेग्गड़े मेरे सामने आ खड़ा हुआ। पान-सुपारी की तश्तरी की ओर उसने हाथ बढ़ाया। मेरे "बैठिए" कहने पर भी वह खड़ा ही रहा। खड़े-खड़े ही उसने पान लिया। मैंने परिहास के लिए उससे पूछा, "आपको नहीं करनी है संध्योपासना?"

"पिताजी गए हैं न?" उसने उत्तर दिया।

"अच्छा तो इसका मतलब, उपासना का ठेका आपने अपने पिताजी को दे दिया है! क्यों?"

"आप?"

मैंने हंसते हुए कहा, "मेरा संध्यावंदन और जप-तप आदि क़रीब चालीस वर्ष पूर्व

ही समाप्त हो गए।" दो घंटे तक घर के मालिक उपासना से नहीं लौटे। इधर शंभु हेग्गड़ेजी खड़े ही रहे। मेरे कहने पर भी नहीं बैठे। कुछ कहना चाहते थे, ऐसा लगा। दोपहर की बातों की वजह से, अपने पिता की डांट की वजह से, वह गूंगे की तरह टुकुर-टुकुर मुझे देखते रहे। उसी समय भीतर से नीराजन जलाकर एक वयोवृद्धा विधवा बाहर आई और मेरे समीप खंभे के पास उसने वह नीराजन रख दिया। शंभु ने कहा, "यह मेरी फूफी हैं। बचपन से यहीं रहती हैं। हमारे घर में यही सबसे बड़ी हैं। यही घर की चिराग हैं। इनसे सलाह किए बिना मेरे पिताजी कोई काम नहीं करते। इतनी भक्ति है इन पर उनकी।" वह मुझसे थोड़ी दूर पर दीवार से टिककर बैठ गई।

"सुना, बहुत दूर के गांव से आए हैं। यह भी पता लगा कि आप हमारी पारोती से मिलने आए हैं।" वृद्धा ने कहा, तो मुझे आश्चर्य हुआ। मुझे लगा, शंभु हेग्गड़े ने हमारी सारी बातें आड़ में खड़े होकर सुन ली होंगी और इस बुढ़िया को बताई होंगी। अन्यथा वह यह प्रश्न न पूछती। उसके मुंह से निकले शब्द 'हमारी पारोती' ने मुझे अचम्भे में डाल दिया। पार्वती के बारे में शंकर हेग्गड़े विशेष आत्मीयता के साथ नहीं बोले थे। उनके प्रति तिरस्कार की भावना भी उनमें नहीं थी और न कोई आदर ही था। वृद्धा ने जब आत्मीयता के साथ 'हमारी' कहा, तो मुझे लगा, कोई खास बात अवश्य है।

"हां मां, उन्हें देखने के लिए ही आया हूं। दोपहर में मैं कुछ देर तक सो गया था। जागा तो देखा शाम हो गई है। तब आपके छोटे भाई ने कहा कि अब कल चलेंगे।"

वह मेरी ओर घूरने लगी। उसकी उम्र कोई अस्सी या पिचासी के करीब थी। आंखें काफी कमजोर लगती थीं। उन्हीं आंखों से वह मेरी ओर ताक रही थी। तभी उसकी आंखों से आंसू की दो बूंदें टपकीं और उन्हें देखकर मेरा कलेजा मानो मुंह को आ गया। किस पूर्व-स्मृति ने उन्हें रुलाया होगा? उनके आंसुओं से किसी कटु वेदना के सिवा और कुछ न झलकता था। क्या अपने दायाद यशवंतराय की कहानी सुनकर वह दुखी है? या 'हमारी पारोती' उनके दुख का कारण है? उनसे कोई प्रश्न न पूछ सका। स्वभाव जाने बिना प्रश्न पूछना पागलपन ही तो कहलाएगा! इतने में उसने अपनी शंका प्रकट की, "आप यशवंत को जानते हैं? क्या उसके मरने की खबर झूठी है?" मुझे लगा, फोड़े पर लोहे की गरम सलाख दाग दी गई है। यशवंत के मरने की वैसी खबर झूठ हो, लेकिन उनकी मृत्यु तो हो ही चुकी है। मैं सोचने लगा, वह यशवंतरायजी के बारे में जिस बात को सुनकर संतुष्ट हो गई थी, उसे वैसे ही बनाये रखूं या बिगाड़ दूं? अपनी बातों में मैंने यह जाहिर नहीं होने दिया था कि यशवंतरायजी मर चुके हैं। पर इस वृद्धा से मैं क्या कहूं? मेरे मुंह से कुछ निकल ही नहीं पा रहा था। उधर, उसके चेहरे की ओर देखा तो आंसुओं की धार बह चली थी। मैं सह नहीं सका। बोला, "अम्मा, लगता है कोई पुरानी याद आपको दुख दे गई है?"

"बेटा, आप बड़े आदमी हैं। लेकिन उम्र में तो मैं ही बड़ी हूं न? अपने उदर से संतान पाने का भाग्य नहीं रहा, तो दूसरे बच्चों को भी अपना नहीं मान सकती क्या?"

इसी बीच शंभु बोला, "हमारी फूफी का सुहाग विवाह के आठ दिनों बाद ही पुंछ गया था। वही कहती हैं–तब मैं आठ वर्ष की थी। पुराने जमाने में 'अष्टवर्ष भवेत् कन्या'–यानी उतनी उम्र में ही विवाह हो जाता था न?"

उसके श्लोक से मुझे हंसी फूटने लगी। संस्कृत के 'अष्ट' को उसने 'उतनी' कर दिया था। लेकिन फिलहाल उस बात का कोई प्रसंग नहीं बैठता। विरसता को धोने के उद्देश्य से मैंने कहा, "आपने बहुत कष्टमय जीवन बिताया होगा, उसी की स्मृति में आप दुखी हो रही हैं? तब आपकी उम्र आठ वर्ष की थी, अब पिचासी वर्ष की है।"

"इसलिए नहीं, बेटा! वह तो ब्रह्मा का लिखा हुआ भाग्य है कि मेरी मांग का सिंदूर मिट गया। परमात्मा ने न जाने पूर्वजन्म के किस पाप का यह दंड मुझे दिया, मैं नहीं जानती। मैं तो एक दूसरी ही बात से दुखी हो रही हूं।"

"वह कौन-सी बात है?"

"ज्ञातिमत्सर एक विष है, जो सांप के विष से भी भयंकर होता है।"

"वह तो हमेशा से जहर रहा है। उससे किसी का भला हुआ है अब तक?"

"मैंने यशवंत के बारे में यह बात कही। हमारी पारोती को भी इसी विष ने काट खाया।"

"मतलब?"

"पारोती और मैं छोटी लड़कियां थीं। साथ-साथ खेला करती थीं। मेरी ही तरह उसका भी सिंदूर मिट गया। वह मेरे कुटुंब की नहीं है। उससे हमारा कोई वैसा नाता नहीं है। वह एक निराश्रय लड़की थी। हमारे चाचा के घर में आश्रय पाकर बड़ी हुई। हम लोगों में फूट पड़ गई थी। भाइयों के आपसी झगड़े से घर का सत्यानाश हो गया। वैसे कहने वाली बात नहीं है यह। इसे कहना अपने पिता की निंदा करने के समान है। यशवंत के पिताजी मेरे पिताजी के बड़े भाई थे। एक ही मां की कोख से पैदा हुए। लेकिन कौरवों-पांडवों के ज्ञातिमत्सर से भी अधिक सत्यानाशी इनका मत्सर रहा। एक दिन मेरे पिताजी ने आग-बबूला होकर काफी कड़ी बात कह दी थी। उनकी भैंस ने घर के पिछवाड़े उगे तीन-चार भिंडी के पेड़ खा लिए थे शायद। वे पौधे पिताजी ने ही बोये थे, उन्हें बढ़ाया था। उन्हें गुस्सा आ गया और ऐसा होना स्वाभाविक भी था। किंतु उन्होंने जो बात क़ही, वह कितनी कड़वी थी, उन्होंने शाप देते हुए कहा–'यदि परमात्मा की आंखें हैं, तो तुम्हारा घर मिट्टी में मिल जाए ; उस पर बांस के झुरमुट उग आएं।' और वह शाप सच साबित हुआ। उस ओर, वह जगह है न बांसों की झुरमुट वाली? वहीं उनका घर मिट्टी में मिल गया। उस छोटे भाई का लड़का बेसहारा हो गया। यशवंत ने गांव ही छोड़ दिया। वहां बांसों की झुरमुट

फलती-फूलती रही। ऐसी फली-फूली कि घर का नामोनिशान मिट गया।

"बिलकुल छोटी-सी, एकदम नीच बात थी। घर का बंटवारा पहले ही हो चुका था। दोनों अपने-अपने घरों में आराम से रह सकते थे। घरों के बीच में दीवारें खड़ी करके भी वे लोग रह सकते थे। किंतु वह तो ज्ञातिमत्सर है न? मनुष्य की जीभ का जहर सांप के जहर से बढ़कर है। अपना-अपना भाग्य है। मेरे पिताजी ने जिस दिन यह बात कही, तब से दोनों घरानों में आपसी कलह बढ़ता गया। उस घर में जो आदमी कदम रखता था, वह यहां नहीं आ सकता था। मैं भी यशवंत के घर नहीं गई। बड़ों के शाप का भय था न! हमारे छोटे चाचाजी का देहांत हो गया। उनका लड़का यानी यशवंत तब जवानी में कदम रख रहा था। उसकी मां भी मर गई। उसके विवाह में यहां से कोई नहीं गया। सब कुछ मिट्टी में मिल चुका था, तो भी उसके बाप के लड़के के प्रति मेरे पिताजी का गुस्सा कम नहीं हुआ। मातृहीन उस बालक को मेरी पारोती ने पाल-पोसकर बड़ा किया। उसे पालने के लिए पारोती उसकी नौकरानी बनी, उसकी मां बनी। उस बालक के लिए दूध थोड़ा कम पड़ जाता तो मुझसे मांगती। मैं चोरी-छिपे दे देती थी। हमारे घर में कोई मिठाई या खाने की नयी चीज बनती, तो मैं उसे चोरी-छिपे पारोती के हाथों यशवंत तक पहुंचा देती थी। एक दिन मेरे पिताजी को यह बात जाने कैसे पता लग गई। उन्होंने कहा, 'अब आगे तुम पारोती के घर गईं, तो तुम्हें मेरी कसम।' क्यों था इतना क्रोध? क्या मतलब था इसका? इतनी दुश्मनी रखने वाले भी समय आने पर चल बसे। उसके बाद यशवंत का विवाह हुआ। हममें से कोई उसमें शामिल नहीं हुआ। सुंदर बहू आई। मैंने चाहा, मेरा बेटा सुखी रहे। परंतु बड़ों के शाप ने उसका भी पीछा नहीं छोड़ा। बांस की जड़ों की तरह ही उसकी जड़ें मजबूत थीं। उसका विवाह हुआ। जो भी मन में आया उसने दूसरों को दिया। हाथ खाली हो गया। अयोध्या छोड़कर जैसे राम वन चले गए थे, उसी तरह वह भी कहीं जाकर मर गया, ऐसा मैंने सुना है। मौत ही सबसे बड़ी गोद है। मेरे पिताजी भी मर गए। उनकी कसम, उनके शाप की पाबंद हूं। फिर भी क्या? यशवंत मेरी ही वंशलता तो है न? जैसे यह शंकर है, वैसे ही वह भी मेरा छोटा भाई है। मेरा अब और कौन है? खत्म होते ठूंठ की अब और कोई आवश्यकता नहीं है। यह बात दूसरी है कि मरने के बाद मेरा यह छोटा भाई जो करना चाहेगा सो करेगा ही। परंतु मेरे यशवंत के जैसे गुण इनमें से किसी में भी नहीं हैं।"

जब मैं यह कहानी सुन रहा था, तो मुझे लगा, मैं न जाने कहां हूं, किस युग में हूं और क्या सुन रहा हूं? जाति-द्वेष के जिस जहर के बारे में मैं सुन रहा था, उसने मेरे खून को खौला दिया था। मेरे मित्र यद्यपि ये सारी बातें सुनने के लिए नहीं रहे, तथापि वह यह सब कैसे भूल सके होंगे? इस जहर का शिकार बनकर किशोरावस्था से जवानी तक और जवानी से बुढ़ापे तक कैसे उन्होंने जीवन व्यतीत किया होगा? ऐसे दादा का पालन-पोषण

कैसे करते रहे? मुझे उस वृद्धा की यह बात एकदम ठीक लगी कि यशवंत के समान गुण किसी में नहीं हैं। उस समय मुझे लगा कि पार्वती की चर्चा नहीं छेड़नी चाहिए। विस्मृति का जीवन ही सुखी जीवन है। कटुता को भूल जाने पर ही जीवन सह्य होता है। उस शक्ति के न होने पर हर तरह से संपन्न होते हुए भी जीवन में एक कचोट-सी लगी रहती है। इस वयोवृद्धा के जीवन में आराम नहीं रहा, चैन नहीं रहा। शाप का शिकार बने यशवंतजी की स्मृति से वह कितनी दुखी हो उठी है! उसी शाप की शिकार हुई यशवंत की धात्री पार्वती। यही कहा जाएगा न? वह जिस घर में रहती है, उस घर में यह वृद्धा नहीं जा सकती। उसका घर भी कौन-सा रह गया है? यशवंत घर छोड़कर चला गया। मकान आंधी-तूफान में ढहकर मिट्टी का टीला बन गया। उस पर बांस की झुरमुट फैल गई। वही झुरमुट तो एक घंटे पहले शंकर हेग्गड़े ने दिखाई थी। शायद शाप की भूमिका वह न जानता हो। इसीलिए उसने किस्सा साधारण ढंग से बताया। निर्लिप्त होकर यशवंत के बारे में बात की। बंधुत्व का रिश्ता होने पर भी इस तरह उनके बारे में बात की, मानो कोई रिश्ता ही न हो। लेकिन वह वृद्धा ऐसी न थी। प्रसववेदना से मुक्त होने के बावजूद प्रसव के लिए ही तो उसका जन्म हुआ था। संतानरहित होने पर भी अपने ही परिवार के एक सदस्य को अपनी संतान मानकर उसका लालन-पालन करने वाली स्त्री थी वह। लगता है कि ऐसी कामना रखने वाली इस नारी ने पार्वती के जीवन से एकात्मता कायम कर ली है। यशवंत अदृश्य हो चुका है, लेकिन यह पार्वती अभी जीवित है। बड़ों के शाप की धधकती आग के बीच पड़ी है वह।

पांच

रात बीत चुकी थी। चारों ओर सुबह का प्रकाश फैल रहा था। मुंह धोया ही था कि शंकर हेग्गड़े की बहू ने आकर यह सूचना दी कि जलपान तैयार है। तब उन्होंने शंभु को आदेश दिया—"इन्हें जलपान के लिए अंदर ले आओ।"

"और आप?" मैंने पूछा।

"मैंने अभी स्नान नहीं किया है। स्नान और भगवान की पूजा कर लेने से पहले मैं कुछ भी नहीं लेता। आप पहले जलपान कर लीजिए। उसके बाद स्नान से निबटकर जहां जाना है, वहां हो आइए। दोपहर तक यहां वापस आ जाइएगा। पार्वती से ही तो मिलना है न? और तो कोई काम है नहीं। काफी वृद्धा है वह। मेरी बड़ी बहन की तरह ही वह भी एक लकड़ी का टुकड़ा रह गयी है। ठूंठ है। मर भी नहीं सकती और जी भी नहीं सकती।"

"स्नान तो मैं लौटने के बाद ही करूंगा। कैसे कहूं कि रास्ते में फिर कीचड़ से स्नान

नहीं होगा? आप तो मेरे साथ आ नहीं पाएंगे। आप कष्ट न उठाइए। किसी नौकर को मेरे साथ भेज दीजिए, बस।"

इतने में उनका पुत्र शंभु बोला—"पिताजी, मैं इनके साथ चला जाऊंगा।"

"चुप रहो। न तुम जाओगे, न मैं। सुब्ब जाएगा। ऐसा है कि बहुत समय से हम लोगों का वहां आना-जाना नहीं होता। किन्हीं बुजुर्ग की कसम है, उसी कारण। वैसे, हमें उससे कोई दुश्मनी नहीं है।"

"हां, मालूम हुआ। आपकी बड़ी बहन ने यह सब बताया था।"

"अच्छा! तो जरा-सी बात में बहन ने आपको पूरा पुराण सुना दिया? मेरी बहन के लिए तो पार्वती जैसे पंचप्राण हो गई है। वह वहां नहीं जाती, फिर भी कोई भी दिन ऐसा नहीं गुजरता, जब उसका स्मरण करना भूल जाती हो!"

तब तक उनके बागीचे में काम करने वाला नौकर सुब्ब आ चुका था। शंकर हेग्गड़े ने उसको ताकीद की कि मुझे वहां ले जाए। मैंने देखा कि शंभु के चेहरे पर मुर्दनी छा गई है। यदि वह मेरे साथ आता, तो न वह मेरे लिए कोई खुशी का विषय होता और न नाखुशी का। इसके पिताजी अगर साथ आते, तो ज्यादा अच्छा होता। उनके न आने का कारण भी मैं जान गया था।

उनके लड़के के साथ जलपान के लिए अंदर गया। लौटने पर देखा कि सुब्ब मेरी राह देख रहा है। मैं उसके साथ पार्वती के घर की ओर रवाना हो गया। शंकर हेग्गड़े ने सुब्ब से कहा—"इनको मैदानी रास्ते से वहां ले जाओ, पारोती दादी के पास। बागीचे से जाते वक्त घर पर गप्पें न मारने लग जाना! जब तक यह दादी से बातचीत करके लौट न आएं, तुम वहीं खड़े रहना।" इसके बाद हम दोनों निकल पड़े।

बागीचा पार करते हुए हम मैदान के किनारे-किनारे चलते चले गए। मेरी सुब्ब से कोई बातचीत नहीं हुई। उस ऊबड़-खाबड़ रास्ते का आधा मील तय कर लेने के बाद सामने सुपारी का एक बाग दिखाई दिया। देखा, शंभु हेग्गड़े वहां हमारी राह ताक रहे हैं। वह शार्टकट से दौड़ता चला आया होगा, हमें पकड़ने के लिए। हमारे पास पहुंचते ही उसने कहा—"सुब्ब, चार-पांच केवड़े के फूल ले आओ। पूजा के लिए चाहिए। तुम यहां हमारी राह देखते रहो, मैं इन्हें दादी के घर पहुंचाता हूं।" यह सुनकर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। मैं कुछ भी नहीं कर सकता था। हम दोनों सुपारी के उस बाग में घुस गए। वहां शंभु ने मुझे रोक लिया। और कई तरह के प्रश्न पूछने लगा—"आपने बताया न कि आप उडुपि की तरफ के हैं? लेकिन आपका नाम मुझे मालूम नहीं है। आप यशवंत चाचा के परिचित हैं, आपका नाम जानना जरूरी है!"

मैंने अपना नाम बता दिया। नाम सुनते ही शंभु का चेहरा निस्तेज पड़ने लगा। कुछ क्षणों तक मेरी ओर आंखें फाड़कर ताकता रहा। उसका चेहरा देखकर मैं समझ गया कि

क्या बात है। मैंने जानबूझकर उससे पूछा, ''हेग्गड़ेजी, क्या इस गांव में शंभु भट्ट नाम के कोई व्यक्ति रहते हैं?''

''क्या आप इसकी तककीकात के लिए आए हैं?''

''किसकी तहकीकात? समझ नहीं पा रहा हूं।''

न वह हिला-डुला, न मैं। दोनों स्थिर हो गए। उसने मेरे दोनों हाथ पकड़ लिए और कहने लगा : "स्वामी, मेरी इज्जत आप के हाथों में है। आप चाहें तो मुझे मार डालिए, लेकिन दादी और पिताजी के सामने मुझे तीन कौड़ी का न बनाइएगा।" मैंने कहा : "मैं समझ नहीं पा रहा हूं कि आखिर बात क्या है। आप क्यों ऐसी बातें कर रहे हैं? मैं कुछ भी नहीं जानता।" मेरे मन में पहले ही शक पैदा हो चुका था, लेकिन मैं उसे छिपाने की कोशिश कर रहा था। गवाह शंभु भट्ट यही है। पार्वतम्मा के नाम भेजे गए पैसों को हथियाने वाला महापुरुष यही है। उस बूढ़े ग्वाले ने मुझे पहले ही बता दिया था कि शंभु भट्ट नाम का कोई आदमी इस गांव में नहीं है। पैसे के लालच में अपने पिता से आंख बचाकर बुढ़िया के घर आता-जाता होगा। जब से यशवंतरायजी ने पैसा भेजना बंद कर दिया था, उसके बाद से मैं ही पैसा भेज रहा था। इसने यह समझकर कि इसकी करतूतों का पता मुझे नहीं लग पाएगा, सारी रकम हड़पनी शुरू कर दी होगी। देहाती बंटवारा है न? जब मैं यह सोच रहा था कि डाकिया और यह मिलकर बुढ़िया को धोखा देते रहे होंगे, तो देखा कि शंभु घबराहट में रो रहा है। मेरे चरणों पर माथा झुकाकर गिड़गिड़ाने लगा, "मेरी रक्षा कीजिए !" उसके बाद सारी बातें उसके मुंह से स्वयं ही निकल पड़ीं। पहले तो वह और डाकिया मिलकर बुढ़िया को बताते थे कि पांच ही रुपए आए हैं और बाकी पैसा आपस में आधा-आधा बांट लेते थे। जब से मैंने रुपए भेजना शुरू किया था, सारे-के-सारे रुपए इन्हीं की जेब में जाते रहे। यह जानकर मैं बहुत दुखी हुआ। मेरे मुंह से अनायास 'हाय' निकल पड़ा। मैं यह कल्पना भी नहीं कर सकता था कि बड़ों का ज्ञातिमत्सर इस हद तक पार्वतम्मा पर आक्रमण कर सकता है। धन ! दरिद्र धन ! शंकर हेग्गड़े बहुत चाहकर भी अपने पुत्र को एक पैसा भी नहीं दे पाए होंगे। और यह प्रौढ़ है, बाल-बच्चों वाला है, जरा-सी रकम पाने के लिए गलत राह पकड़ ली इसने। मैंने इस घर का अन्न खाया। अब इसने खुलकर सारी बातें मुझे बता दी हैं और मेरे चरण पकड़ रहा है तो मुझे क्या करना चाहिए? मैंने उससे कहा : "घर जाइए। पिता की आज्ञा का पालन कीजिए।"

"मेरी रक्षा करेंगे न?" उसने पुनः विनती की।

"वचन दिया है।"

"दादी से भी न कहिएगा?"

"नहीं कहूंगा, जाइए।" मैं बिगड़कर बोला।

"आप नाराज हो गए हैं क्या?"

"आप पर नहीं।"

सौभाग्यवश सौ गज की दूरी पर सुब्ब केवड़े के फूल लिए आता हुआ दिखाई पड़ा। "फूल लेकर घर जाइए। चिंता न कीजिए। दोपहर में भोजन के लिए आऊंगा," मैंने कहा।

"वहीं न रह जाइएगा।"

"वहां जाने पर क्या होगा, अभी नहीं बता सकता।"

उस वंचिता, निराश्रय, निराधार वृद्धा से बात करने में न जाने कितना समय लगेगा? मेरी भूख और पेट उसके सामने बहुत अदना पड़ते हैं—सोचते हुए मैंने सुब्ब के साथ बाग पार किया। सामने एक काफी बड़ा घर था। उसके आंगन में पांव रखते हुए सुब्ब ने कहा, "नीचे का चोच्चक घर यही है। काफी समृद्ध घर है। थोड़ी ही दूर रह गया है।" उस घर के मालिक बैठक में बैठे थे।

"अरे, सुब्ब, कहां जा रहे हो? ये कौन हैं?" उन्होंने पूछा, तो भी मैं आगे बढ़ता रहा। सुब्ब उन्हें दौड़ता हुआ कुछ बताकर फिर मेरे साथ आ मिला। सौ कदम आगे आ जाने पर घास की एक छोटी-सी झोंपड़ी दिखाई दी। आंगन में तुलसी का पौधा था। गीली साड़ी में लिपटी एक वृद्धा उस तुलसी-वृंदावन की परिक्रमा कर रही थी। "यही हैं क्या ?" मैंने उल्लसित होकर पूछा। "जी हां," सुब्ब ने उत्तर दिया। उसने वहीं से पुकार लगाते हुए कहा, "दादी मैया! ऊपर के घर के मालिक ने इन रायजी को आप के पास भेजा है।" बुढ़िया जप करती हुई तुलसी-वृंदावन के आगे झुकी, माथे पर मिट्टी लगाकर खड़ी हुई और उसके बाद मेरी ओर देखते हुए उसने कहा : "कोई खड़ा-सा है न?" धीमी आवाज में सुब्ब ने वही वाक्य दोहरा दिया। वह इतने धीमे स्वर में बोला कि वृद्धा उसकी बात शायद सुन न सकी। इसलिए मैंने ही कहा : "अम्मा, मैं एक पराए गांव का रहने वाला हूं। आपसे मिलने के लिए आया हूं। आपको मानने वाले महाशय ने मुझे आपके पास आप के हाल जानने के लिए भेजा है।" मुझे खयाल नहीं रहा कि मैं हाथ जोड़कर उनके सामने खड़ा हूं, उसने मेरी ओर नजर उठाई और कहा, "बेटा, मुझे क्यों नमस्कार कर रहे हो? परमात्मा को करो।" कहकर उसने मुझे वृंदावन दिखाया।

"आप बड़ी हैं। आपकी अपेक्षा उम्र में मैं छोटा हूं," मैंने कहा।

बूढ़ी ने सिर हिलाकर कहा, "ना, ना ! ऐसा नहीं। प्रभु को ही नमस्कार करो।"

"प्रभु को भी करूंगा। बड़ों को नमस्कार करने में कोई दोष तो नहीं है न?"

"बड़ा तो केवल वही है, बेटा!"

वह मेरे पास आई और एकटक मेरा चेहरा देखने लगी। उसके बाद 'लो" कहकर उसने पादोदक (प्रसाद) दिया और मैंने ले लिया। फिर वह मेरे चेहरे पर नजर गड़ाए रही। फिर बोली, "बेटा, मेरी उम्र तो सत्तर-अस्सी वर्ष की हो चुकी है। अच्छी तरह देख भी नहीं पाती। कौन होंगे?" वह फिर मेरी ओर देखने लगी, "पहचान नहीं पाती। सूरत-शक्ल से

पहले से परिचित होती, तो पता लग जाता। वह भी अंदाज से मैंने सोचा, कहीं हमारा यशवंत तो नहीं है! वह कहां से आएगा? कुमटा छोड़ने के बाद आया ही नहीं, किंतु वह लड़का मुझे हमेशा याद करता होगा। मुझे वह कभी भूल ही नहीं सकता। हर महीने मनीआर्डर से पांच-पांच रुपये भेजा ही करता है। करीब तीन महीने से जाने क्यों रुपये आने बंद हो गए हैं। खैर, फिर भेज देगा।" आखिरी वाक्य सुनकर मैं चौंक पड़ा।

"दादी मां, आप खड़े-खड़े बातें कर रही हैं। चलिए, भीतर चलें। आपके पुत्र यशवंत ने मुझे भेजा है। यह जानने के लिए आया हूं कि आप कैसी हैं !"

"सच? बेटा, तुम बड़े पुण्यात्मा हो। आओ !" कहकर वह मुझे चौपाल पर ले गईं। झाड़ा-पोंछा। फिर कहने लगीं, "एक पीढ़ा भी हाथ नहीं आ रहा है।" तब तक मैं जमीन पर बैठ चुका था।

"मेरा बेटा चंगा है न? मरने से पहले एक बार उसे देख लेने की बहुत इच्छा है, वह आएगा न? वह किस राज्य में रहता है, मैं किस राज्य में रहती हूं, कुछ भी नहीं मालूम। उसकी याद आते ही कलेजा मुंह को आ जाता है। इस बूढ़ी को वह अभी तक याद करता है, इतना ही मेरे लिए बहुत है, स्वर्ग है। स्वर्ग क्या है, जानते हो? हाय रे ! यह निगोड़ी जीभ भी बिना परिचय पूछे 'तुम-तुम' कर रही है !"

"आप तुम ही कहिए। आप बड़ी हैं। मेरी दादी की उम्र की हैं। आपके 'तुम' से मुझे काफी अच्छा लग रहा है।"

"अब कहां से आए हो? तुम्हारा गांव कौन-सा है? यशवंत तुम्हारा क्या लगता है?"

"वह तो मेरे बड़े भाई के समान हैं। वैसे कोई रिश्ता नहीं है। केवल स्नेह है।"

"कुछ देर बैठोगे न?"

"इसीलिए तो आया हूं—आपको देखने-जानने के लिए।"

पार्वतम्मा मुझे वहीं छोड़कर अंदर चली गईं। मैंने बाहर आकर सुब्ब से कहा, "तुम चले जाओ। मैं देर से आऊंगा। मेरे देर से आने की सूचना घर में दे देना।" वह चला गया। अंदर आकर मैं फिर उसी जगह पर बैठ गया, जहां पहले बैठा था। घर के भीतर से खट-खट की आवाज आई। ऐसा लगा कि वह कुछ तैयार कर रही हैं। वहीं बैठे-बैठे मैंने ऊंची आवाज में कहा, "दादी, मेरे लिए कुछ न बनाइए।" उस बेचारी के घर में क्या है? न भाई, न बहन, अगर थोड़ी-बहुत मदद मिलती भी होगी, तो पड़ोसियों से। यशवंत जी प्रतिमास पच्चीस रुपये भेजते थे, पर उनके हाथ केवल पांच रुपये पड़ते थे। इन्हीं पांच रुपयों में उसे गुजारा करना होता था। पिछले तीन महीनों से वह भी नहीं मिला। यह सब सोचकर मैं काफी दुखी हुआ। दुख के साथ डर भी होने लगा। बूढ़ी के सामने यह नाटक रचना कि यशवंतजी अभी जीवित हैं, क्या उचित होगा? मन में यह प्रश्न उठ ही जाता है। मैं कहे बिना रह भी नहीं सकता। उसने कहा था न, 'वही स्वर्ग है।' जिस लड़के को

पाल-पोसकर उसने बड़ा किया था, उसके अस्तित्व की स्मृति ही उसके लिए अमृत बन गई है। यह जानते हुए भी क्या मुझे यह कहना चाहिए कि उसकी प्रिय वस्तु तीन महीने पूर्व ही हमेशा के लिए आंखों से ओझल हो गई है?

कुछ ही समय बाद पार्वतम्मा मेरे लिए नाश्ता तैयार कर लायीं। मुझे उसे देखकर घबराहट होने लगी। एक थाली में आग पर सेंके गए चार पापड़ और कांसे की लुटिया में पेय लाकर मेरे सामने रखते हुए बोलीं, "दूर से थककर आए हो। हरी मूंग मथकर पेय बनाया है। लो, संकोच मत करो। हरी मूंग शरीर को ठंडक पहुंचाती है।"

"पापड़ सेंक दिया है न?" मैंने पूछा।

"कहने को पापड़ हैं ! न उड़द के हैं, न कटहल के। केसवे नाम के एक कंद से तैयार किए हैं। उम्र ज्यादा हो गई, तो क्या? जीभ का स्वाद तो नहीं गया है। नमक-मिर्च अब भी अच्छा लगता है। कई बार मेरी मूकांबा चोरी-छिपे मेरे लिए पापड़ भेजा करती है। यह पापड़ उसका बनाया हुआ है या मेरा, कुछ पता नहीं लग पा रहा है।"

मैं पापड़ खाने लगा, आज तक मैंने केसवे का पापड़ नहीं खाया था। कड़ा था, लेकिन नमक-मिर्च के कारण काफी अच्छा स्वाद दे रहा था। मूंग का शरबत पीते हुए मैंने कहा, "दादी, जब मैं छोटा था तो इस तरह मूंग मथकर गुड़ के साथ खाया करता था। उससे पेट भी ठीक रहता था और शरीर को ठंडक भी मिलती थी। आपने अभी मूकांबा का नाम लिया न? वह कौन है?"

"मेरी ही तरह वह भी एक बुढ़िया है, मेरी जेठानी है। हम दोनों के शरीर अलग-अलग हैं। पर जीव एक ही है। तुम शंकर हेग्गड़े के घर से आ रहे हो न? उनकी बहन को नहीं देख पाए, मालूम होता है। मूकांबा वहीं है।" कहते हुए उसके आंखों से आंसू बहने लगे, "देखो बेटा, एक-एक ऋण-संबंध ऐसा ही रहता है। यशवंत और मेरे बीच पुत्र और मां जैसा संबंध है। मूकांबा और मेरे बीच बड़ी-छोटी बहनों का-सा प्रेम है। यशवंत को देखे पंद्रह साल हो गए हैं या बीस साल, ठीक-ठीक याद नहीं आता। मैं भूल गई या वह भूल गया? मूकांबा इतनी नजदीक रहती है, फिर भी हम दोनों के बीच नदी है, जिसे पार नहीं किया जा सकता।"

"नदी?"

"नदी नहीं, समुद्र। देखो बेटा, मेरे बेटे के पिता और मूकांबा के बीच झगड़ा था, कसम-शपथ का झगड़ा हुआ। दिखावे के लिए ही सही, उनके बेटों को तो उसका पालन करना ही होगा न? उन्होंने उसे शपथ दी है कि जहां मैं रहती हूं, वहां वह नहीं जा सकती।"

"हां, अम्मा! सब कुछ सुन लिया है। उन्होंने ही मुझे सारी बातें बताईं। आपके द्वारा यशवंत का पालन-पोषण किया जाना, घर से दूध चुराकर खुद आपको देना, पिता को इसका पता लग जाना—सब कुछ मालूम हुआ। सामने वाले बांस का झुरमुट दिखाकर वह रोई

थीं। क्या किया जा सकता है अम्मा, उनके बारे में, जो खोए हुए हैं?"

"तो तुम्हें भी सारी कहानी मालूम है ! इसके बाद भी साल में कम-से-कम एक या दो बार गुड्डे बेनकय्याजी (गणेशजी) के मंदिर में पूजा के लिए जाते वक्त मेरी और मूकांबा की भेंट हो ही जाती है। तब हम आपस में अपने-अपने दुखड़े रो लेती हैं, दुख-सुख की बातें कर लेती हैं। मेरी ही तरह उसने भी दुख झेला है। क्या अब मैं पहले की तरह मेहनत कर सकती हूं? जब तक कर सकती थी, यहीं ऊपर वाले घर में काम किया, अब मुझसे कुछ भी नहीं होता। मुझसे ममता होने के कारण घर में यदि कोई मीठी चीज बनती है, तो मूकांबा शंभु के हाथों थोड़ा-सा मेरे लिए भिजवा देती है। शंभु भी अपने पिताजी से छिपाकर मुझे वह दे जाता रहा है। यदि बता देता, तो सर नहीं उड़ा दिया जाता उसका? क्यों व्यर्थ बखेड़ा उठाने का, कहा-सुनी का मौका दिया जाए? इस खयाल से वह घर में बिना बताए यहां आ जाता है। यशवंत से जो मनीआर्डर आता है, उस पर अंगूठे का निशान भी वही लगवाकर ले जाता है। तीन महीनों से मनीआर्डर भी नहीं आया। पता नहीं, क्यों?"

"दादी, आपको महीने में जो पांच रुपये मिलते थे, उनसे खर्च निकल जाता था क्या?"

"मेरा बेटा जो पांच रुपया भेजता है, वे मेरे लिए पांच सौ के बराबर हैं।"

"एक महीने के चावल-कपड़े के लिए पांच रुपये काफी होते हैं क्या?"

"दिन में एक ही बार तो भोजन करती हूं न? एक जून के लिए कितना चाहिए? साल भर के लिए दो धोतियां। वे भी फट चुकी हैं। अब गीली साड़ी से काम चला रही हूं। अब की बार रुपये आए, तो हेग्गड़े राय से या शंभु से कहकर एक धोती मंगवा लूंगी।"

"दादी मां, यशवंत आपको बहुत चाहता था न?"

"हां, वह तो मेरे जिगर का टुकड़ा है।"

"आप ही ने उसे पाला-पोसा था न?"

"मैं क्या पालूंगी-पोसूंगी? परमात्मा ने मेरे हाथों से वह काम कराया। मेरी बाली का भाग्य जब चला गया, तो कोई मेरा आश्रयदाता भी नहीं रहा। बड़ा भाई, मां सब एक-एक करके मलेरिया से चल बसे। इस पापी पेट को भरने के लिए भगवंत हेग्गड़े के घर गई और वहीं रहने लगी। भगवंत हेग्गड़े ही यशवंत के पिताजी थे। वे बहुत अच्छे आदमी थे। किंतु मुंह के कड़े थे। वह तो उनका पैदायशी गुण था न? इस यशवंत की मां, सावित्री हमेशा बीमार रहती थी। तीन-चार बच्चे जनकर चल बसी। चौथा लड़का था यशवंत। जब यह जन्मा था, तो मां की छाती में दूध न होने के कारण काफी दुबला-पतला रह गया था। हड्डियों का ढांचा रह गया था केवल। दिन-रात रोना ही उसका स्वभाव था। मैं ही उसकी देखभाल करने के लिए बची रह गई थी। मुझे विश्वास नहीं था कि यह दो बरस जी जाएगा। बेनकय्या ने ही बचाया उसे। वह जी गया। मां हमेशा के लिए बेटे को अपने प्यार से वंचित कर चल बसी। मैंने उसको मां का प्यार दिया। पर हां, यशवंत के पिता ने दूसरा विवाह

कर लिया। दूसरी पत्नी से कोई संतान न हुई। यदि हुई होती तो यशवंत के कष्टों का कोई ठिकाना ही न होता।

"यदि मैं कहूं कि यशवंत को मैंने पाल-पोसकर बड़ा किया, तो वह छोटे मुंह बड़ी बात होगी। परमात्मा ने उसे पाला-पोसा, बड़ा किया। इसी बीच शंकर हेग्गड़े के पिता और उनके छोटे भाई भगवंतय्या के बीच झगड़ा हो गया। शपथ-कसम की बातें हुई। जायदाद का बंटवारा हुआ। तब भी बैर-भाव नहीं मिटा। मूकांबा जो दूध चुराकर देती थी, वह उसी समय की बात है। खैर, उस कहानी को छोड़ो।

"आगे चलकर मेरा बेटा बड़ा हुआ। भगवंतय्याजी की इच्छा थी कि उनका लड़का पढ़े, कोई बड़ा काम करे, इसीलिए घर में शिक्षक रखकर उन्होंने उसे पढ़ाया। अंत में उसे कुमटा भेजकर अंग्रेजी की शिक्षा भी दिलवाई। बेटे का विवाह भी बड़ी शान-शौकत से कराया। परी-सी पत्नी घर आई। उसके गृह-प्रवेश का मुहूर्त शायद ठीक नहीं रहा, बेटे के पिताजी चल बसे, हमारी आंखों के सामने एकदम अंधेरा छा गया। यशवंत और उसकी पत्नी...।"

"उसका नाम?"

"न जाने क्या था? मुझे याद नहीं आ रहा। कमला रहा होगा शायद। हां, ठीक। कमला ही था। बेटा, देखने में तो वह काफी सुंदर थी, पर मेरे बेटे के योग्य नहीं थी। हसद होता है न, हसद। कइयों में यह जन्म से ही रहता है। उस हसद को तो फैलना ही था। उन लोगों में एक कंगाल औरत भी थी। कौन थी वह? जानते हो? यही परोती, जो उनके घर पेट पालने के लिए गई थी। मैं कमला के लिए डाह का कारण बनी। दोनों के बीच तेल और साबुन का-सा रिश्ता रहा। यदि मैं कहती, 'मैं चली जाती हूं।' तो यशवंत कहता, 'मैं जान दे दूंगा'। घर के भीतर यह आफत बनी रही, तो घर के बाहर शंकर के पिता का सर्प-डंक। समुद्रमंथन में सबसे पहले विष ही निकला था न? जैसे-तैसे यशवंत बड़ा हुआ। फिर विवाह कर लिया। विवाह के बाद उसके पिता चल बसे।

"आपको उसके गुणों की जानकारी नहीं होगी। छोटा था, तब भी काफी गुणी था। उसके हाथ में चाहे मालपुआ दो या लड्डू या कुछ भी, वह उससे संतोष कर लेता। और उसके सामने खड़ा होकर कोई कहने लगे, 'मेरे बेटे, मेरे सोना, मेरे माणिक, मेरे मोती, मुझे भी एक टुकड़ा दे दो,' तो वह तुरंत दे देता। उसके सारे दोस्त और गांव के सारे लोग उसका यह गुण जानते थे। उसको फुसलाकर, उसकी तारीफ करके, उसकी खुशामद करके, अपने कष्टों का बखान करके लोग उससे कुछ-न-कुछ मांग ही लेते थे। और वह देता जाता था। वह तब तक देता रहा, जब तक उसका घर डूब नहीं गया। अब जो उसके घर आई थी, वह भी ऐसी ही थी। जो कुछ घर में बचा था, सब मायके की ओर रवाना कर दिया। इस गांव में उस पर कर्ज भी काफी हो गया था। काफी आमदनी थी। सारा-का-सारा-कर्ज चुकाने

में चला गया। परंतु जो कुछ देना बच गया था, उसकी वसूली के लिए कर्जदार उसकी गर्दन पर आ बैठे। उसे गांव छोड़ देना पड़ा, सब कुछ गिरवी रखकर। मैंने घर के इस निचले हिस्से को न बेचने की सलाह दी, इसलिए उसने नहीं बेचा। बाकी सब कुछ पड़ोसी राम हेग्गड़े ने खरीद लिया। खरीद लिया था या कर्ज की रकम के एवज में हड़प लिया था, ठीक से याद नहीं आ रहा है। परंतु मेरे बेटे ने घर देते समय यह शर्त लगा दी थी कि जब तक पार्वती जीती रहेगी, तब तक घर का निचला हिस्सा उसी के कब्जे में रहेगा। मुझे छोड़कर जाने की उसकी कतई इच्छा नहीं थी। मैं चली जाती, तो उसका मन न जाने क्या करता?

"लाख बातों की एक बात—मेरे भाग्य में नहीं लिखा था उसके साथ रहना। वह कुमटा चला गया। यहां तो उसने सब कुछ खो दिया था, लेकिन वहां वह व्यापार से कुछ कमाने लगा। किसी तरह घर बसाकर रहा। रहा क्या? जीता रहा। बरस-चार बरस में यहां आकर मुझे चावल-कपड़ा दे जाता था और रोकर कहता था, 'अम्मा, मेरे लिए आप ही देवता है, संसार हैं, मेरी पत्नी का स्वभाव आप जानती ही हैं न? वह मेरे पूर्वजन्म की बैरिन है। बदला लेने के लिए उसने जन्म लिया और मेरी पत्नी बनी।' खैर, उससे उसकी चार संतानें हुईं। मैंने सोचा कि अब उसे सुख मिलेगा, किंतु वह भाग्य भी उसे नहीं मिल सका। संतानें और मां एक जैसे निकले। यहां पच्चीस वर्ष रहा, वहां भी पच्चीस ही वर्ष रहा। फिर वह एक दिन अचानक घर छोड़कर पांडवों की तरह बनवास के लिए निकल पड़ा। जाने से पहले एक बार वह यहां भी आया। अपनी सारी कहानी उसने कह सुनाई। कौन-सी कहानी, जानते हो? वही पहले वाली, नयी नहीं। 'अब मुझे घर-गृहस्थी कुछ नहीं चाहिए। सुख काफी भोग लिया। कहीं और जाकर चिंतामुक्त होकर जीऊंगा,' कहकर जब वह चुप हुआ, तो मैंने उससे कहा, 'बेटा, तुम मेरे साथ तो रह सकते हो?' 'अम्मा, मैं स्वयं तुम्हें ले जाता, तुम्हारी देख-रेख करता। मुझे ऐसा करना भी था। लेकिन क्या तुम मुझे अपने पास रखकर पालोगी? ना, ना, मैं अलग और दूर रहूंगा। मैं रहूं या न रहूं, लेकिन मैं मनुष्य कहलाने योग्य बना हूं, तो आप ही के कारण।' इतना कहकर वह चला ही गया, बेटा! फिर कभी लौटकर नहीं आया। आज तक कभी नहीं आया वह पुण्य पुरुष।"

मानो फूटते दुख को रोकते हुए वह थोड़ी देर चुप रहीं और फिर कहने लगीं, "बेटा, वह कहीं रहे, क्या वह मुझे भूल सकता है? क्या मैं उसको भूल सकती हूं? हम देह से भले ही मिट जाएं, लेकिन एक-दूसरे की याद हममें सदा बनी रहेगी। कोई दिन ऐसा नहीं बीतता, जब उसकी छवि मेरी आंखों में न रहती हो।"

थोड़ी देर बाद उसने यशवंतजी के बच्चों की क्रीड़ाओं का वर्णन सुनाया। कहानियां सुनाईं। वह सुनाए जा रही थीं, लेकिन एक खयाल मुझे बहुत बेचैन कर रहा था कि कैसे उसे यह बताऊं कि उसका बेटा तीन महीने पहले ही हमेशा के लिए इस दुनिया से विदा

ले चुका है ! मैंने सिलसिला बढ़ाते हुए कहा, "आपके द्वारा पाले-पोसे गए पुत्र से मेरा परिचय केवल चार-पांच साल पुराना है। हर वर्ष दो बार मैं बंबई जाता था और उनसे अवश्य मिलता था, आखिरी बार उन्होंने मुझसे अपनी एक इच्छा प्रकट की थी। उन्होंने मुझे कुछ रुपये भेजे हैं और कहा है कि हर माह आपको पच्चीस रुपये पहुंचाता रहूं।"

"उसके पास पैसे काफी हो गए हैं क्या?"

"नहीं अम्मा, जो रुपये आपको देने के लिए उन्होंने मुझे भेजे हैं, वे आपको ही मिलने चाहिए न?"

"उसको जो मैंने कहा है, वह लिखो और कहो कि मैंने ऐसा लिखने को कहा है।"

"वे अब नहीं रहे, अम्मा!"

"यानी?"

"क्या सभी सौ वर्ष जीते हैं?"

"मेरा बेटा !"

"उन्हें गुजरे हुए तीन महीने हो चुके हैं।"

हमारी बातचीत वहीं ठिठक गई। मैं भी कुछ न बोल सका। वह भी कुछ नहीं बोलीं। क्षणभर के लिए हम दोनों के गले रुंध गए। वह क्या-क्या न कहेंगी और मुझे क्या-क्या न सुनना पड़ेगा ! इसकी व्यथा मुझमें बनी हुई थी। मित्र की स्मृति से मेरी आंखों से अश्रुधारा बह रही थी। उन्होंने देखा—मेरी ओर विशेष रूप से कुछ लक्ष्य करते हुए देखा; वे मुझसे कुछ कहना चाहती थीं। फिर थोड़ी देर बाद बोल ही उठीं, "बेटा, तुम्हारी उम्र कितनी है, कहो तो?"

"पचास वर्ष।"

"तो मैं उम्र में तुमसे भी तीस वर्ष बड़ी हूं। तुमने ही तो कहा न कि मैं बड़ी हूं? हां, आयु में तो मैं तुमसे बड़ी ही हूं न?"

"आयु में, अनुभव में, सब में, अम्मा!"

"तो सुनो, यह जीवन पानी का बुदबुदा है। क्या वह स्थिर रह सकता है? तुम रोते क्यों हो? तुम्हारा दोस्त अब इस दुनिया में नहीं रहा, इसलिए? कौन नहीं मरता? पांडव मरे, कौरव मरे। कहो, कौन नहीं मरता? यह देह तो एक फटा हुआ गंदा कुर्ता है, क्या कुर्ता फट नहीं जाता? फटा कुर्ता पहनकर क्या प्राण जीवित रहेगा? यशवंत का कुर्ता फट गया। कल मेरी यह चमड़ी और यह हड्डियों का पिंजड़ा भी मिट जाएगा। फिर कल तुम्हारी भी वही स्थिति होगी।"

"सही है।"

"सही, यदि मानें तो। मानना ही चाहिए। जो इसे झूठ समझता है, वह आदमी नहीं है। यशवंत मरा नहीं है। मरेगा भी नहीं। वह अब भी मेरी आंखों के सामने है। मरा है

केवल उसका चोला। परमात्मा ने मेरे बेटे को अपने पास बुला लिया है। उसे उसकी आवश्यकता थी। मैं बुढ़िया यदि कहूं, 'मैं भी आती हूं', तो वही भगवान मुझसे कहेगा, 'ठहर जाओ, रुक जाओ। जब बुलाऊं, तब आओ।' वह बुलाए तो सही। यदि वह नहीं बुलाता है, तो हमें यह व्यथा भुगतनी ही होती है। उसके बुलावे पर रोना नहीं चाहिए।"

"हां माताजी, ऐसी दृष्टि सबके पास हो, तब न? यह अत्यंत कठिन है, अम्मा!"

"ऐसी दृष्टि होनी चाहिए। तो, मेरा बेटा मर चुका है?"

"हां, तीन महीने पहले बंबई में उनकी मृत्यु हुई। मैं उस समय वहां गया था। तार आया था। मेरे मित्र थे, इसलिए गया। केवल शव देख पाया, जीवित नहीं।"

"उसके लिए भाग्य चाहिए।"

"हां, अम्मा, हां। सभी चीजों के लिए चाहिए। तो मैं आपको देने के लिए बहुत कम रकम लाया हूं न? उनकी दी हुई रकम, देनी ही चाहिए न? उनका ऋण मुझे चुकाना ही चाहिए।"

"मैं रुपये-पैसे लेकर क्या करूंगी, बेटा? पांच-दस दे दो, तो ले लूंगी।"

"और मैं रखकर क्या करूंगा? मैं भी कमाता हूं। फिर उनकी रकम मेरे पास नहीं रहनी चाहिए। अम्मा, मैं न उनके कुल का हूं, न गोत्र का। मरते समय कई हजार रुपयों की पूंजी मेरे हवाले करते हुए उन्होंने एक पत्र में मुझे लिखा है कि ये रुपये उन्हीं कार्यों में खर्च करना, जिन्हें तुम उचित समझते हो। वे कार्यों का निर्देश कर जाते, तो मुझे किसी प्रकार की चिंता नहीं रहती। अब मैं दुविधा में पड़ गया हूं कि क्या करूं?"

"सच कह रहे हो?"

"माताजी, आपके आगे क्या इतनी दूर से मैं झूठ बोलने आया हूं?"

"मेरा एक विचार है।"

"कहिए, क्या है?"

"उसने मुझे यदि पच्चीस रुपया देने के लिए कहा है, तो भी पांच काफी हैं। तब प्रतिमास बीस रुपये बचते हैं न?

"हां, बचते हैं।"

"तो उनसे उस बेटे के नाम पर एक काम कराया जा सकता है।"

"सो क्या? कहिए।"

"हमारे गुड्डे बेनकय्या को पूछने वाला कोई नहीं रहा। इस इलाके में वही एक मंदिर है। पहले सैकड़ों ब्राह्मणों के घर थे यहां, अब दस भी नहीं बचे हैं। सभी यहां से कहीं चले गए। क्यों, जानते हो? उन्होंने बेनकय्या की सुध लेनी छोड़ दी थी। परमात्मा ने अपना अभयदान नहीं दिया। वरना बेनकय्या का मंदिर इस हालत में होता? उसके चारों ओर उग आये झाड़-झंखाड़ की भी सफाई नहीं की गई, मंदिर का छप्पर और उसकी दीवारें

भी गिर जाएं, तो उसकी कतई परवाह नहीं है गांव वालों को। बेनकय्या उन्हें पसंद नहीं रहा अब। हम केवल नाम के ब्राह्मण हैं। क्या ब्राह्मणत्व शेष है हममें? भगवान-विहीन ब्राह्मणत्व रहा तो क्या, न रहा तो क्या !"

"माताजी, अगर आप नाराज न हों तो क्या एक बात पूछ सकता हूं—क्या परमात्मा है? मुझमें यह संदेह अकसर जागता है।"

"तुम भी मेरे यशवंत के कुल के हो, तो फिर... ।"

"यानी?"

"यशवंत ने भी कई बार मुझसे यही कहा है। इसीलिए उसे इतना कष्ट झेलना पड़ा है। परमात्मा पर से उसका विश्वास ही उठ गया था। उठ गया था, यानी नहीं रहा।"

"आप क्या कह रही हैं? ठीक-ठीक समझ में नहीं आ रहा।"

"ऐसा है बेटा कि जो विश्वास करते हैं कि वह है, तो वह है। उस पर विश्वास करने का अर्थ चाकरी करना नहीं है। 'मुझे यह दो, वह दो; यदि दोगे, तो बहुत अच्छे हो तुम; नहीं दोगे, तो बुरे।' ऐसा परमात्मा पर विश्वास करने वाले नहीं कहा करते। बेनकय्या के मंदिर में ही प्रभु है और कहीं नहीं, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। जानकारों का कहना है, वह हर जगह है। इस दृष्टि से संसार की तमाम चीजें परमात्मा हैं; प्राणिमात्र प्रभु है। यह जीव, वह जीव; यह प्राणि, वह प्राणि—ऐसा भेद नहीं करना चाहिए। हममें और दूसरे जीवों में भी भगवान है, ऐसा विश्वास करके चलें, तो उसमें परमात्मा के अस्तित्व की सार्थकता है। केवल मुंह से 'परमात्मा है' कहने का कोई अर्थ नहीं है।"

"सच है। अब जो रुपये मैं साथ लाया हूं, उन्हें आपको सौंपकर शंकर हेग्गड़े के घर पर जाने की इजाजत चाहता हूं। उनसे कहा था कि भोजन के वक्त तक लौट आऊंगा। अच्छा, आज्ञा दीजिए।"

"एक कौर भात खाकर जाओ। घर पर आने वाले मेहमानों को भोजन कराना मेरा धर्म है और खाना तुम्हारा।"

"नहीं, माताजी!" कहकर मैं रुपये गिनने लगा।

"मैं तुम्हारे रुपये छुऊंगी नहीं।"

"मेरे नहीं... आपके बेटे के हैं। अगर आप नहीं लेंगी, तो बताइए आपके बेटे के संतोष के लिए और क्या करूं?"

"तुम हठ कर रहे हो।"

"आपके हठ की ही तरह।"

"पहले भोजन कर लो, उसके बाद बात करूंगी।"

वृद्धा के हाथों से बने प्रीतिभोज करने में दो घंटे का समय बीत गया। उन्हें तो संतोष हो गया। पर बिना जाने कि उन्होंने भी खा लिया है या नहीं, मैं उनसे कह बैठा, "अब

आप अपनी बात कहेंगी?"

"मैं, तुम और सब कुछ ही समय के लिए आकर चले जाने वाले हैं। परंतु मनुष्य-जन्म वैसा नहीं है। तुम्हारे पिताजी थे, उनके भी पिताजी थे। इसी तरह बढ़ती रहती है मनुष्य-परंपरा। तुम्हारी संतान भी आगे बढ़ेगी। मैं नहीं रहूंगी, तुम भी नहीं रहोगे, इसके बावजूद जिस पर हम विश्वास करते हैं, वह बचा रह जाता है। तो देखो, बेनकय्या हमारा भगवान रहा है और उस पर हमारा विश्वास रहा है। यशवंत के पिताजी और दादा का भी उस पर विश्वास था। उनका घर तो तबाह हो गया, लेकिन कुल फिर भी शेष ही रह गया है न? उनका कुलदेवता भी वही हैं। मैं समझती हूं कि हमें उसे नहीं भूलना चाहिए।"

उनकी घुमावदार बातों में मुझे उनकी एक सुप्त आकांक्षा दिखाई पड़ी, तो मैंने पसोपेश नहीं किया। तय कर लिया कि अपने मित्र की स्मृति को बचाने और उनकी उपमाता की प्रिय आकांक्षा को पूर्ण करने से बड़ा और कोई कर्तव्य नहीं है। कहा, "माताजी, अब आप आगे और कुछ न बोलिएगा। मैं आपकी आकांक्षा समझ गया हूं। आपके यशवंत की रकम आपकी नहीं है, ऐसा बिलकुल नहीं है। पच्चीस रुपयों की तो बात ही क्या? अब रुपयों का कोई सवाल ही नहीं रह गया है। अगर आपके पोषित पुत्र के नाम पर बेनकय्या के मंदिर का जीर्णोद्धार कर दिया जाए, तो उचित रहेगा न?"

मेरी बात यह सुनकर वह चुप हो गईं। मुझे लगा कि मेरी बातों पर जैसे उन्हें विश्वास नहीं हो रहा है। भरोसा देते हुए मैंने कहा, "जब तक इस कार्य का कोई प्रबंध न कर लूंगा, तब तक यह गांव छोड़कर नहीं जाऊंगा। मैं प्रतिदिन आपसे मिलूंगा। आप कतई चिंतित न हो। आपके पुत्र के पुण्य के प्रताप से बेनकय्या का मंदिर पहले जैसा ही बन जाएगा। अच्छा, अब आप जाकर भोजन कर लीजिए।"

"आज भोजन कैसे करूं? उसके बदले अपने बेटे के नाम पर प्रभु का जप करूंगी।" इतना कहकर उन्होंने मुझसे विदा ली। मैंने शंकर हेग्गड़े के घर की राह पकड़ी। मेरे मन में दो जीर्ण मंदिर उठ खड़े हुए—एक, पत्थर और मिट्टी से बना बेनकय्या का मंदिर; और दूसरा, हाड़-मांस से बना मंदिर, जिसकी अधिष्ठात्री देवी हैं पार्वतम्मा। मैं इसी संतोष में डूबा चला जा रहा था कि मुझे अचानक अपने मित्र द्वारा बनाए गए एक चित्र की याद हो आई। जब पहली बार वह मेरी नजरों में पड़ा था, तो कोई विशेष भाव मेरे मन में नहीं उभरा था। मैंने अनुमान से यह जाना कि उसमें उन्होंने खंडाला के एक दृश्य को अंकित किया है। उस चित्र की विषय-वस्तु में कोई खास बात न थी—एक मामूली-सी दुबली-पतली गाय एक चरागाह में खड़ी है। उसके पास में एक बछड़ा है, जिसका उस गाय से कोई संबंध नहीं जान पड़ता था। वह उस गाय का बछड़ा नहीं था, भैंस का बछड़ा था और उसके थन चूस रहा था। गाय उसके बदन को सहला रही थी। मैंने सोचा, बछड़े का रंग चूंकि काला है, इसलिए वह गाय का नहीं, बल्कि भैंस का बछड़ा है, थोड़ी देर पहले जिस

पार्वतम्मा को देखा था, उसकी याद से मेरी कल्पना कुछ और ही हो गई। वास्तव में वह चित्र तो यशवंतजी का आत्मकथन था। पार्वतम्मा ही वह गाय है और भैंस का बछड़ा यशवंत हैं। मुझे लगा कि अपनी कोख से जन्मे पुत्र से भी अधिक ममता पार्वतम्मा ने यशवंतजी को दी थी, इसीलिए उन्होंने कृतज्ञतावश ऐसी तसवीर निर्मित की है। मेरी यह धारणा सच है या गलत, ठीक-ठीक नहीं कह सकता, परंतु मुझे वह सच के निकट ही लगती है। प्राणि-संग्रहालयों में कुतिया बाघ के बच्चों को दूध पिलाकर बड़ा करती है। स्त्री-जाति में मातृभाव एक अद्भुत वस्तु है। उस भाव का यदि प्रकाशन न हो सके, तो नारी जीवन वीरान हो जाता है। संतानहीन अभागिनी है यह पार्वतम्मा ! यशवंतजी की माता जब जीवित थीं, तो उनका स्वास्थ्य अकसर खराब रहता था, तभी पार्वतम्मा उनकी मां बन गई थी। वह सच्ची माता बन गई। यशवंतजी यह उपकार कभी नहीं भूले। वैसे, चाहते तो औरों की तरह उन्हें भी भुला सकते थे। लेकिन वह नहीं भूले, यह उनकी महानता है।

गांव लौट चुकने के बाद, यशवंतजी के द्वारा बनाया गया वह चित्र मैं बार-बार देख लूं, तो यशवंतजी की गरिमा का गुण भूल नहीं पायेगा। उनके जीवन में कटुता भरने वाले पत्नी-पुत्रों के प्रति मुझमें आदरभाव उठने लगा। मैंने यशवंतजी का पक्ष लिया है। उनकी कहानी और भी न्यारी हो सकती है। वह कैसे मालूम हो? इसे मालूम करने की कोशिश करनी चाहिए। प्रारंभिक जिज्ञासा का समाधान पार्वतम्मा ने कर ही दिया है। कुमटा के उनके संगे-संबंधियों के बारे में उन्हें शंकर हेग्गड़े से अधिक जानकारी है। मैं सोचता ही था कि यशवंतजी की पत्नी का नाम 'जलजा' है। इस बारे में पक्का विश्वास-सा हो गया था। पार्वतम्मा ने खुलासा कर दिया—जलजा यानी कमला। कमला यानी यशवंतजी की पत्नी।

छह

मैं इस इरादे के साथ आया था कि घंटे-दो घंटे पार्वतम्मा से बातचीत कर गांव लौट जाऊंगा, पर मुझे बेनकनहल्ली में तीन दिन रुकना पड़ा। उससे लाभ ही हुआ, नुकसान नहीं। मनुष्य के स्वभाव को नजदीक से जानने का मौका मिला। वह मौका तो निश्चित रूप से सुंदर था, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि हर मानव का स्वभाव सुंदर होता है। शंकर हेग्गड़े के घर लौटा, तो उनके समाधान की तैयारी करने लगा। "इतनी देर तक क्या बातचीत करते रहे?" उनके इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर देकर उन्हें खुश जो करना था मुझे! लौटने में काफी देर हो गई थी, सो एक गलती; उनके घर भोजन भी नहीं किया, सो दूसरी गलती। फिर एक जगह यशवंतजी की मृत्यु का समाचार सुना चुका था, उसे यहां सुनाए

बिना कैसे रह सकता था? इसलिए उनके प्रश्न का बड़ी सावधानी से उत्तर देते हुए मैंने कहा, "कोई खास बात तो नहीं थी, लेकिन उस दादी से मिलने पर मेरे मन में उनके प्रति श्रद्धा और आदर का भाव जाग उठा—जैसे बड़ी बहन से मिलने पर हो जाता है। उनसे बातचीत करने लगा। यशवंतरायजी के बचपन के बारे में जानने की इच्छा जाग्रत हुई, इसलिए उनसे उस संबंध में अनेक सवाल पूछता रहा। देरी का यही कारण है। वह पुरानी स्त्री भी तो हैं न? बातों को काफी लंबा करके बोलती थीं। बातचीत में जब मेरी दिलचस्पी बढ़ जाती है, तो आदतन मैं भी लंबे-लंबे वाक्य बोलने लगता हूं।"

"सच है," उन्होंने कहा, "वह सब जानती है। 'जानती है' का क्या मतलब हुआ? यही कि यशवंत को पाला-पोसा उसी ने। हम भाई-भाई हैं, तो भी उसके और मेरे पिता के संबंध अच्छे नहीं थे। तेल और साबुन का जैसा संबंध था हम लोगों के बीच।"

"आपकी बड़ी बहन बता चुकी हैं।"

"अब कैसा है यशवंत?" हेग्गड़ेजी ने पूछा, "कहां है? सकुशल है? स्वास्थ्य कैसा है उसका? घर छोड़ने के बाद कमाकर कुछ बचाया भी है उसने?"

"उन्हें पैसे का लालच नहीं था।"

"इसीलिए तो न? सब कुछ उसने गंवाया। अगर गंवा न चुका होता, तो क्या यहां से उसे जाना पड़ता ? जो भी हो। उसकी तबीयत तो ठीक है न?"

"अब तबीयत का कुछ भी बिगड़ने वाला नहीं है?"

"क्या मतलब?"

"मरे हुओं को बीमारी लगती है क्या?"

"क्या यशवंत मर चुका है? कल तो आपने पूछने पर भी कुछ नहीं कहा?"

"क्या वह सुनाने-योग्य समाचार था?"

"हमें सूतक है न? वह मर चुका? कहां? कैसे?" कहते समय यह नहीं लगा कि मरते वक्त पूर्वजों के प्रति उनके मन में कोई विद्वेष बचा है। वे उठे और जल्दी-जल्दी भीतर जाकर ''अक्क, अक्क!'' (बड़ी बहन, बड़ी बहन) पुकारने लगे और जोरों से कहने लगे, ''हमारा यशवंत मर चुका है, सो !"

मैं सुन रहा था। बहुत देर तक वह बाहर नहीं आए। फिर लौटकर बड़ी बहन मूकांबा के साथ मेरे पास आ बैठे। बड़ी महन मूकांबिका कहने लगी, "कल बुरा महसूस हुआ होगा, इसीलिए यह समाचार नहीं सुनाया। कल मैंने आपको जो कहानी सुनाई, उससे न जाने आप कितनी दुखी हुए। हम दायाद हैं और आप मित्र। आपमें और हममें बस इतना ही फर्क है। पार्वती को यह समाचार सुनाया क्या? न सुनाते, तो अच्छा रहता। उसका पाला-पोसा लड़का था।"

"सुनाए बिना कैसे रह सकता था? जिनको सुनाना जरूरी है, उन्हें यह सुनाना ही

चाहिए था न?"

"अब तो सुना चुके न? कैसा काम कर दिया तुमने? मैं जानती हूं कि वह अब चार दिन भी नहीं जी पाएगी।" कहकर वह तुरंत वहां से निकल पड़ी। उसके चेहरे पर मुर्दनी छा गई थी।

"कहां चली? कहां चली?" कहते हुए जब छोटे भाई ने उससे प्रश्न किया, तो "तुमको इतनी भी समझ नहीं? कौन है इस समय उसका? कौन बचा है? आज तक तो पिताजी की शपथ पर चलती रही, अब मैं और पाप अपने मत्थे नहीं ढो सकती। बहुत हुआ।" कहकर वह चल पड़ी। लाचार होकर उसके छोटे भाई हेग्गड़े उसे वहां पहुंचा आए। उस रात वह घर नहीं लौटी। मैं यहां बैठे-बैठे ही मातमपुर्सी का सहज अनुमान कर सकता था।

अब तो जो शंभु हमें मुंह नहीं दिखाना चाहता था, वह फूफी और पिताजी के चले जाने पर भी बाहर नहीं आया। मैं ही उसका नाम लेकर पुकारने लगा। उसकी पत्नी ने जोर दिया होगा, इसीलिए वह मेरे पास आया। "आइए, आइए। उकता चुका हूं। बेनकय्या के मंदिर तक हो आएं," मैंने कहा।

"सूतक का समाचार सुना न?"

"सूतक मेरे लिए नहीं, आपके लिए है, आप दूर ही खड़े रहिएगा।" कहकर मैंने उन्हें साथ लिया। जिस रास्ते वहां से आया था, उसी से गया। शंभु सिर झुकाए हुए मेरे पीछे-पीछे चल रहा था—बाघ के डर से पीछे-पीछे चले आ रहे ढोर की तरह। दिन-भर काफी तेज धूप थी, इसलिए उस सांझ की तरह रास्ता कष्टकारी नहीं रहा था। हम दोनों साथ-साथ आगे बढ़ने लगे। मंदिर के पास पहुंचने पर वह दूर ही खड़ा रहा। मैंने मंदिर की परिक्रमा की। फिर सामने आकर खड़ा हो गया। झांककर भीतर देखा। मंदिर के गर्भगृह के सामने वाले मंडप पर गोबर का बड़ा ढेर पड़ा था। उस बेनकय्या की स्थिति पर किसी का भी दुखी हो जाना सहज था। उसकी छाया में जीती हुई पार्वतम्मा के प्राण इस टीस से सूखते रहे थे—मैं इसकी आसानी से कल्पना कर सकता हूं।। इस मंदिर को पूरी तरह ढहाकर फिर से एकदम नया बनाया जाए, तो भी दो-तीन हजार रुपये से अधिक खर्च नहीं होगा। कार्य होना ही था—मेरे लिए नहीं, मेरे मित्र के लिए नहीं, बल्कि पार्वतम्मा की भक्ति-भेंट के लिए। यदि मंदिर का जीर्णोद्धार देखकर वह मरी, तो ऐसा सत्कार्य होगा, जैसे कि यशवंत जी ने ही उस बुढ़िया का श्राद्ध किया हो।

वहां से लौटकर मैंने उससे पूछा, "क्यों महाशयजी, सुना है कि आपके गांव में यही एक मंदिर है। क्या आठ-दस ब्राह्मण भी यहां नहीं हैं? वर्ष में एक बार तो कम-से-कम आप लोग यहां आते ही होंगे?"

"मतलब? बेनकय्या के मंदिर आए बिना कैसे रह सकते हैं? हमारा कुल-देवता है न बेनकय्या !"

"तो आपका कुल ढोरों का है।"

"मतलब?"

"देखिए, वहां गोबर के ढेर-के-ढेर पड़े हैं। जरा उस मंदिर की स्थिति तो देखिए !"

"क्या करें? सरकार की ओर से कोई अनुदान नहीं मिलता और गांव वाले खुद कुछ करना नहीं चाहते। क्या हम अकेले उसे बनवा सकते हैं?"

मैं थोड़ी देर के लिए उसका मुंह ताकता रहा। मैं उसे लगातार देखता जा रहा था और उसका दर्द भी वैसे ही बढ़ता जा रहा था। "आप मेरे पिताजी से कुछ भी न कहें।" वह प्रार्थना करने लगा।

"मैं तो आपको वचन दे चुका हूं। आपने पार्वतम्मा की रकम उड़ाई, इससे आपका भला नहीं होगा। वह चाहती है कि इस मंदिर का जीर्णोद्धार हो जाए। उस डाकिये ने तो जो खाया सो खाया, उसे छोड़ दीजिए।" कहकर मैंने उसे चेतावनी दी, "यदि आप अपना और अपने बाल-बच्चों का भला चाहते हैं, तो जितने आपने उड़ाए हैं, उनका हिसाब करके मुझे दे दीजिएगा।"

"हां, कर दूंगा।"

"इसमें आपका भी कल्याण है। यह तो उतना बड़ा मंदिर भी नहीं है। आपके गांव वाले पैसे दें, या न दें। आपके चाचा यशवंतरायजी की कुछ पूंजी मेरे पास पड़ी है। उसमें जो पैसा कम पड़ेगा, वह मैं अपनी ओर से व्यय करूंगा। आप और आपके पिताजी, दोनों मिलकर एक वर्ष के अंदर इसका जीर्णोद्धार कर दें। पैसे की जिम्मेदारी मेरी रही। अगली गणेश चतुर्थी के दस महीने अभी बाकी हैं। तब तक यह कार्य पूरा हो जाना चाहिए। पार्वतम्मा के आदेशानुसार ही पूजा एवं भोज का प्रबंध किया जाए।" मैं उससे विस्तार से कार्य के बारे में बात करता रहा। उसका मन भी हल्का होने लगा। उसे लगा कि पापों के प्रायश्चित का यह सबसे अच्छा अवसर है। वहां से घर लौटकर हेग्गड़ेजी के साथ भी उसी बात का सिलसिला जारी रखा। वह थोड़ा कंजूस लगते थे। इसके बावजूद मेरी बात उन्होंने मान ली। "कल आप यहीं हैं न?" उन्होंने कहा, "गांववालों को भी बुला लेंगे और नीचे के घरवालों को भी। सारा कुछ आपके सामने ही तय कर लिया जाएगा।"

"लोग आएं या न आएं, इस काम की पूरी जिम्मेदारी आप पर ही है। रकम कम पड़ेगी, तो वह मैं दूंगा।"

"ऐसा ही होगा।" उन्होंने तपाक से उत्तर दिया। मैं तो दूर का व्यक्ति ठहरा, सो भी अपरिचित। कल मंदिर का कार्य पूरा हो जाने पर मैं पैसा देने में आना कानी करने लगूं, तो क्या होगा? ऐसा भी उनके मन में आया होगा। मेरे बारे में और भी अनेक प्रकार के शक पैदा हुए होंगे। इसलिए मैंने कहा, "ज्योंही गांव पहुंचूंगा, तुरंत आपके नाम दो-तीन सौ रुपये भेज दूंगा।"

उस रात घनिष्ठ मित्रों की तरह पुरानी बातों की हम चर्चा करते रहे। अपनी बड़ी बहन का पार्वतम्मा के घर जाना उन्हें ठीक-सा नहीं लगा था। पूर्वजों की बात का उल्लंघन करना उचित होगा या अनुचित, इसी पसोपेश में वह पड़े थे। धीरज बंधाते हुए मैंने कहा, "हमारे पूर्वजों ने जो अच्छे संप्रदाय बनाए हैं, उन्हें हमें अपना लेना चाहिए। लेकिन अर्थहीन नियमों का पालन करने वाली बात समझ में नहीं आती। आखिर उसमें क्या रखा हुआ है? बच्चों की गलतियों का मूकानुमोदन करने वाले धृतराष्ट्र की क्या गति हुई? वह तो बड़ा था न? इस प्रकार शपथें लेते हुए कई घरों और कई लोगों को मैंने देखा है। परमात्मा का नाम लेकर कसम खाने वाले भी कम नहीं हैं। किंतु अन्यायी शपथ से परमात्मा को क्या तृप्ति हो सकती है? यदि होती है, तो फिर ऐसे प्रभु की क्या आवश्यकता?"

वह रात मैंने शांति के साथ बिताई। मैं स्वप्न के राज्य में विचर रहा था—पार्वती और मूकांबिका की बातचीत सुनते हुए। मैं प्रसन्न था।

दूसरे दिन स्नान और नाश्ते से निबटने के बाद शंकर हेग्गड़े को जबरन अपने साथ ले गया और नीचे के चोच्चक घर के राम हेग्गड़े के घर पहुंच गया। शंकर हेग्गड़े ने उन्हें मेरा परिचय दिया। बातचीत में यशवंतरायजी का हवाला भी आया। पार्वतम्मा का जिक्र तो खैर हुआ ही था। राम हेग्गड़े ने, बातचीत के दौरान, मेरे मित्र के अनेक गुणों और दुर्गुणों का बखान किया :

"जब मैं एकदम छोटा था, तभी यशवंत हेग्गड़े को देखा था। हम दोनों की लगभग बराबर उम्र थी, मेरे पिताजी ही ने तो उसे कर्ज दिया था। उस कर्ज की अदायगी के तौर पर ही तो हम इस घर में पहुंचे। हमारा पहला घर नीचे के मैदान में था। सुनने में आता है कि वह मेरे पिता से जब-तब कर्ज मांगता था, पिता दे दिया करते थे। वह तो जवानी में कदम रख रहा था। ऐरे-गैरे पंच-कल्याणियों को रुपये-पैसे देकर दरबार लगाया करता था। हमारे गांव के कुछ लोग तो उसी के पैसे पर पले-पुसे। मेरे पिताजी उसे समझाया भी करते थे, 'भाई, इस तरह पागलपन से पैसे खर्च मत करो।' अगर वह चाहते तो अपनी अपनी मुट्ठी बंद भी रख सकते थे। गांव में मेरे पिताजी ही ऐसे बचे थे, जिनके पास कुछ अधिक पैसा था। इस भूमि पर पहले से ही उनकी नजर लगी रही होगी, इसीलिए बेतहाशा रुपया देते रहे। जब हाथ में पैसा रहे, तब बुद्धि ठिकाने क्योंकर हो? यशवंत ने सूद पर रुपया लिया था और बिना किसी सूद के औरों के बीच बांट दिया। यदि कोई उससे कहता, 'तुम तो कर्ण हो, तुम्हारे जैसा दधीचि नहीं,' तो वह बांसों उछल पड़ता था। कुल मिलाकर वह अच्छा आदमी था। बुरा नहीं था। क्यों, शंकर हेग्गड़ेजी?"

"सच है। छोड़िए उस बात को। ऐसा है कि यह अपने पास यशवंत की कुछ रकम बताते हैं। उसके अलावा भी कुछ पैसा देकर यशवंत के नाम पर बेनकय्या के मंदिर का जीर्णोद्धार करना चाहते हैं।"

राम हेग्गड़े की आंखों में चमक दौड़ने लगी। चेहरे पर बड़प्पन की गरिमा नाच रही थी। गर्दन फुलाकर शान से कहा, "हां, ठीक है। वह एक काम बच ही गया है। अब तक उसे हो जाना चाहिए था। लेकिन जो काम कराना है, वह अच्छी प्रकार से हो, बस ! फिर चाहे पांच हजार लग जाएं, चाहे दस हजार। काम अच्छा ही होना चाहिए।"

मैने हंसते हुए कहा, "इतने छोटे मंदिर के लिए पांच-दस हजार की क्या जरूरत?"

"क्यों नहीं? आज बाजार में चीजों का भाव क्या है? अब जब काम करना ही है, तो ठीक से क्यों न किया जाए? पर्याप्त धन मिल जाए, तो तांबे का छतगीर बनवाया जा सकता है। ऐसा नहीं होना चाहिए कि हर तीन महीने बाद मरम्मत की जरूरत पड़ने लगे।"

"आप गांव वाले मिलकर उदार दिल से चंदा देकर यह कार्य पूरा करें, तो उसका श्रेय आप सब को ही मिलेगा। यशवंतजी के हिस्से का चंदा मैं दूंगा।" जब मैंने यह कहा, तो राम हेग्गड़े की सांस रुकने-सी लगी। उन्होंने एकदम बात का रुख बदल दिया, "शंकर हेग्गड़ेजी, सिरसी के मुंसिफ की अदालत में तिम्म हेग्गड़े का मुकदमा चल रहा था, उसका क्या हुआ?" मैं समझ गया कि अब मुझे यहां से उठ जाना चाहिए। वहां से उठा और पार्वतम्मा के घर चला गया। वहां दोनों बुढ़िया बैठकर दीवार से पीठ टेके हुए आपस में न जाने क्या-क्या बातचीत कर रही थीं। जब मैंने उनके सामने बेनकय्या के मंदिर की बात उठाई, तो उनमें कुछ उत्साह दिखाई पड़ा। पार्वतम्मा ने कहा, "बेटा, यदि यह काम तुम्हारे हाथों से हो जाता, तो बेनकय्या की एक बार रोज सबेरे पूजा करती और सुख से प्राण निकलते।"

"तुम भी और मैं भी।" मूकांबा बोली।

"बेनकय्या ही सब कुछ निभाएगा। चिंता क्यों करती हो, पार्वतम्मा?" कहकर मैंने उन्हें सांत्वना दी।

"बेटा, क्यों आए तुम यहां? बेनकय्या की ही प्रेरणा से तो न? मेरे बेटे की मृत्यु का समाचार तुम्हें यहां लाया न? उसी बहाने यह मूकांबा सब बंधन तोड़कर यहां चली आई। मूकांबा के यहां आने से मुझे कितनी खुशी हुई है ! यशवंत को मरना था और यह घड़ी मुझे देखनी ही थी न?" कहकर वह थोड़ी देर तक चुप रही, फिर बोली, "उसकी याद आते ही दुख उमड़ आता है, बेटा! परंतु मरने वालों के लिए दुख नहीं करना चाहिए। तुमसे ऐसा कहकर खुद शोक करने लगूं, वह भी गलत है। यशवंत मेरी याद में चल बसा। अब मैं भी हूं और मूकांबा भी है। एक-दूसरे को देखे हुए कितने दिन हो चुके थे! क्या पहले भी वह कभी यहां आयी थी? अब आयी। जैसी उसने छुटपन में देखा था, वैसी ही मैं उसे अब दिखाई पड़ी हूंगी। सच्ची याद क्या कभी भूल सकती है?" फिर उन दोनों ने मातृहीन यशवंत के बारे में अनेक कहानियां सुनायीं। उनके पिता भगवंतय्याजी का विवाह करना; सौतेली मां के घर आने पर उसका रजस्वला होना, तो भी निस्संतान होना; सौतेले पुत्र से

प्यार करने के बजाए उसके प्रति विषाक्त होना; उसके कारण यशवंत का मुक्तभोगी बनना; नयी मालकिन से उसका गालियां खाना; यशवंत के लिए अनेक कष्ट सहकर पार्वतम्मा द्वारा सुख जुटाना आदि दस-बारह घटनाओं का वर्णन पार्वतम्मा ने किया।

पार्वतम्मा को यशवंत के बचपन की एक कहानी याद हो आई। वह हंसकर कहने लगी : "बाल लीला हमेशा भली; किसी का भी बालक क्यों न हो उसकी क्रीड़ा सुंदर होती है। उसे वक्रता नहीं आती। यशवंत की मां हमेशा बीमार रहा करती थी। इसलिए मैं ही रोज उसे गोद में उठाकर चूमती थी, उससे खेलती भी थी। उसे खिलाना-पिलाना-सुलाना, कहानी-सुनाना, उससे खेल करना वगैरह मेरा रोज का काम था। इसके अलावा घर की चाकरी भी करती। झाड़ू लगाना, लीपना, मथना, रसोई तैयार करना—ये सारी जिम्मेदारियों मेरे ही सर पर थीं। तब मैं काफी मजबूत थी। घर में ज्यादा लोग भी नहीं थे। मैं तो बचपन में ही अपना सुहाग खो चुकी थी। यह लड़का शायद तीन वर्ष की उम्र में ही मुझसे पूछने लगा था, 'पारम्मा, मेरे पिताजी तुम्हें अच्छी साड़ी नहीं दिलाते? तुम हमेशा सफेद साड़ी पहना करती हो। उसका न किनारा है, न आंचल...। एक टुकड़ा सोना भी तुम्हारे पास नहीं। मेरी उस मां के पास बहुत सोना है, बहुत साड़ियां हैं।' मैं हंसकर जवाब देती, 'उससे विवाह कर लिया है तेरे पिताजी ने। वह इस घर में खूब सोने के जेवर पहनकर आई थी। तुम्हें जनकर बीमार पड़ गयी, इसीलिए अब ज्यादातर लेटी रहती है। बस इतना ही, इसके सिवा... ।'

" 'जनना माने क्या, पारम्मा?' उसने पूछा था। इस पर मैं अपनी हंसी न रोक सकी और खिलखिलाकर हंस पड़ी।

'मैं जानता हूं ... परसों गाय ने काले बछड़े को जना न? उसी तरह ...'

'हां, बेटा !'

'तुमने मुझे जन्म दिया है न?'

'नहीं बेटा, उसने। जबसे तू जन्मा है, वह बीमार ही पड़ी रहती है। बेचारी है न वह? तुम उसे कष्ट न दिया करो। उसके पास जाकर हठ मत किया करो।'

'ठीक है लेकिन पिताजी तुम्हें अच्छी साड़ी, अच्छी चूड़ियां, सोना वगैरह क्यों नहीं देते? तुम तो इतना सारा काम करती हो?

'मुझे सोना क्यों देंगे, बेटा? मेरे पास काफी सोना है।'

'कहां है?'

'है। तुम नहीं जानते, मैं जानती हूं।'

'तुम झूठ बोलती हो।'

'नहीं, यशू!' कहकर मैंने उसे उठाया और उसके गालों का चुंबन लेकर कहा, 'यह है मेरा सोना।' उससे उसे कितना संतोष हुआ, क्या बताऊं ! ऐसी तरकीबों से उसे चुप

करना पड़ता था।

"वह बड़ा हुआ। उसकी मां बहुत दिन नहीं जी सकी। हेग्गड़ेजी ने जल्द ही दूसरा विवाह कर लिया। पहले-पहल जब ससुराल आई, तो बड़ी दब्बू लगती थी। यशू तो मुझसे ही चिपका रहता था। यह देखकर उसे न जाने क्या लगने लगा ! वह मुझे नफरत की नजरों से देखने लगी। उसे भी वह घृणा की दृष्टि से देखा करती। एक दिन उसने कोई बहाना पकड़ लिया और नाराज होकर कहने लगी, 'इस रांड के आने से तो मेरा घर लुट गया !' यह बात मैंने अपने कानों से नहीं सुनी। तब मेरा कोई भी नहीं था। न अन्न देने वाला, न बातचीत करने वाला। लेकिन मैं भी रूठ गई और तुरंत घर से बाहर चल पड़ी। बेनकय्या के मंदिर में चली गई। तब यह लड़का न जाने कहां था। मुझे वहां न पाकर वह चीखने-चिल्लाने लगा। उसे तो रोकना चाहिए था न? न, लेकिन वह उससे भी घृणा करती थी। उस मंदिर के पास आकर वह जोर-जोर से 'पारम्मा, पारम्मा' पुकारने लगा। मैं उसकी पुकार सुनकर उसके पास दौड़ी चली आई। उसे पकड़कर मैं मंदिर में ले गई। 'तुम्हारी सौतेली मां ने मुझसे कहा कि मैंने उसका हार चुरा लिया है। इस पर मुझे दुख हुआ, मैं चली आई। अब जंगल हो तो जंगल, पहाड़ हो तो पहाड़, वहीं जाती हूं। वहीं जाकर मरूंगी।' ऐसा मैंने कह तो दिया, पर यह नहीं सोचा कि इसका उस पर क्या असर होगा। उसने पकड़कर मुझे पीटा और बेनकय्या के आगे लोटपोट होकर रोने लगा। मुझसे उसका दुख नहीं देखा गया। मैं यह संकल्प करके चली आई थी कि अब उस घर में पांव न रखूंगी। पर यह मुझे घर ले गया। उसे धीरज बंधाना ही मेरा एक काम हो गया।

"शायद हमारी बात ऊंची आवाज में हो रही थी। ढोर हांकने के लिए गई मूकांबिका ने हमारी आवाज सुन ली। वह भी हमारे पास आकर बैठ गई। उसके आगे मैंने अपना दुखड़ा रोया। शाम तक हम सब वहीं रहे। फिर स्वादी गए। भगवंतय्या चुरमुर-चुरमुर करते हुए जूते पहनकर सामने से चले आ रहे थे। रिवाज के अनुसार जूते पहनकर मंदिर के सामने खड़े हो गए। उनकी आंखें हमारी ओर उठी भी नहीं थीं कि यह यशू बोल उठा, 'बापूजी ! पारम्मा कहती है, मैं मर जाऊंगी, भाग जाऊंगी। छोटी मां को मार दो।' मैंने उसके मुंह पर हाथ रख दिया। मूकांबिका पर उनका बड़ा विश्वास था। उसने उन्हें सारी कहानी कह सुनाई। तब उन्होंने स्नेह-भरे स्वर में कहा, 'पारू ! यह ठीक है कि वह मेरी पत्नी है, पर अभी घर का मालिक मैं ही हूं। चलो, घर चलो।' वह हमें घर ले गए और पत्नी को बुलाकर डांटने लगे, 'देखो, यह पार्वती उसकी मर चुकी मां के स्थान पर उसकी रक्षक बनकर रही है। इस घर को अपना समझकर चलाने कोई और नहीं आया। फिर भी तुमने ऐसा किया, तो समझ लो, किसको इस घर से निकलना होगा!'

"उस दिन से सावित्री का क्रोध, ताप, द्वेष जो भी हो, सीमित रहता। वह सामने कुछ नहीं बोलती थी, पर जो भी घर में आते-जाते, उनसे जली-कटी बातें कहकर अपने फफोले

फोड़ती रहती। यशू जब बड़ा हुआ, समझदार बन गया, तो उसकी परवाह ही नहीं करता था। मुझे ही कभी-कभी उसकी उतावली का रोकना पड़ता था, 'जो भी हो, वह तो तुम्हारी छोटी मां है। इससे तुम्हारे पिताजी दुखी होंगे।' लेकिन यशू को तो उसके पिताजी सचमुच प्यार करते थे। उनमें अपने पुत्र के प्रति अपार दुलार था। रत्न से प्यार किए बिना रहा जा सकता है क्या? बालक भी तो उसी योग्य था न?"

प्रत्येक घटना को जब मैं याद करता हूं, तो मूकांबा हमें कई रूपों में दिखाई पड़ती है—कभी हितोपदेश करती, कभी सलाह देती हुई, कभी गोठ के पिछवाड़े में या कभी बेनकय्या के मंदिर के पिछवाड़े में या सुपारी के बगीचे में पेड़ों की आड़ में खड़ी होकर तरकीब बताती हुई, धीरज बंधाती हुई। ऐसे कई प्रसंगों का चित्रण सुनकर मैं बड़ा खुश हुआ। मुझे लगा कि यशवंतजी बचपन से ही कांटों के मंडप से घिरे रहे। जिसने जीवन में स्वयं कष्ट झेले हों, वह औरों के सुख-दुख को आसानी से समझ लेता है। इसीलिए प्रौढ़ होने पर वह औरों के प्रति उदार होते चले गए। घर की मिल्कियत हाथ लगने पर उनका हाथ और अधिक खुल गया। पैर चादर से भी लंबे हो गए। जो दानी होते हैं, दुनियादार उन्हें हमेशा झांसा देने की कोशिशों में लगे रहते हैं। चोर, डकैत अपने स्वार्थ के लिए ऐसे आदमी की अनुकंपा को अपने स्व-साधन की चीज बना लें, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। राम हेग्गड़े भी तो अपने पिताजी के कारोबार के बारे में शंकित होकर बताते रहे थे, ऐसे लोग सभी कालों में हुआ करते हैं। पात्र-अपात्र की परख तो दानी को ही करनी चाहिए।

पात्र-अपात्र के बारे में यशवंतजी क्या सोचते थे—यह पहले ही बता चुका हूं। उनकी स्मृति में ऐसा संघर्ष बार-बार उभरता दिखाई पड़ता है। जब वह जान जाते कि फलां अपात्र है, तो भी उसके मन का संघर्ष—मैं सच्चा हूं या वह सच्चा है—बना रहता था। सूक्ष्मदर्शियों के लिए जीवन आखिर तक शायद कांटों का बिछौना बना रहता है।

बेनकनहल्ली में मैंने तीन दिन बिताए। इन तीन दिनों में मैंने गांव को देखा, शंकर हेग्गड़ेजी से काम करा लेने के उपाय सोचे, बेनकय्या के मंदिर का निरीक्षण किया, पार्वतम्मा तथा मूकांबिका के विगत जीवन का पुराण सुना। गांव छोड़ने से पहले मैं उस अभागिन के पास गया और "अम्मा, अगले महीने से तो दस रुपये ही भेजूंगा, लेकिन ये तीन महीनों के रुपये रख लीजिए," कहकर मैंने उसे वह रकम थमा दी।

"मैं इतने सारे रुपये कहां रखूं? राम को दे देना।"

"राम को दे देना?"

"हां, क्या हुआ? वह पड़ोसी है। जो चीज मैं चाहती हूं, वही लाकर देता है।"

"सो तो ठीक है। फिर भी . . . ।"

मेरी बात को समझते हुए वह बोली, "क्या राम पैसे उड़ा जाएगा? तो भी क्या? वह भी मेरे लिए बेटे के समान है। इस बखार (बाड़े) में दूसरा कौन है? और फिर रुपये खर्चने

के लिए ही तो हैं। वह खाए तो, मैं खाऊं तो!"

मैं हंसा। कहा, "तब तो अम्मा, मैं ही उड़ा लूंगा! रुपयों को पचाने की ताकत मुझमें खूब है। हजार रुपये भी एक ही दिन में उड़ा जाऊंगा।" यह सुनकर वह भी खूब हंसीं और बोलीं, "वैसी बुद्धि-नीयत होती, तो यहां तक आते? ऐसा लग रहा है, तुम्हारे सिर पर यशवंत का हाथ है। देखो बेटा, पैसे के बारे में ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए। वह तो लक्ष्मी है न? लक्ष्मीदेवी के प्रति मेरा बेटा ढीला रहा, इसीलिए उसे इतने कष्ट उठाने पड़े।"

मैंने फिर हंसकर कहा, "दादी अम्मा, आखिर आपका वेदांत यहां तक तो बढ़ गया! जब आप ही 'पैसे परमात्मा हैं', 'रकम रमा है' कहने लगी हैं, तो सामान्य लोगों में तो यह निगोड़ी बुद्धि उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकती।"

"नहीं बेटा, पैसा लक्ष्मी है। लक्ष्मी देवी है। पैसे से अच्छाई भी मिलती है, बुराई भी। भर्तृहरि या किसी और ऋषि ने कहा है न कि दान और भोग के लिए जो धन उपयोगी न हो, वह नाश ही करता है। लक्ष्मी अच्छी रही, तो देवी; अपनी सीमा में रही, तो देवी; नहीं तो पिशाचिन।"

उस वृद्धा के लोकानुभव से प्रसन्न होकर मैंने उससे अगले वर्ष आने का वायदा किया और शंकर हेग्गड़े के घर की राह पकड़ी। दूसरे दिन शंभु स्वादी तक मुझे छोड़ने आया था। उसी दिन मैं सिरसी के अपने एक मित्र के घर पहुंच गया। सोचने लगा कि सीधे अपने गांव जाऊं या अपने मित्र के गांव कुमटा? अंत में तय किया कि एक ही घूंट में सब पी जाना उचित नहीं, इसलिए पहले अपने गांव जाना ही बेहतर है। मैं अपने गांव लौट गया।

सात

मैं न तो महमूद गजनवी हूं और न पार्वतम्मा के भक्ति-परिवार का हूं। बेनकय्या के मंदिर का जीर्णोद्धार करने की बात सोचकर जब से गांव लौट आया हूं, तब से यदा-कदा शंकर हेग्गड़े को रुपये भेजता रहा हूं, ताकि कार्य पूरा हो सके। परंतु मन में उनके बारे में बार-बार संदेह उठता था कि उन पर विश्वास करना भी चाहिए या नहीं? रुपयों के लिए वह अकसर पत्र लिखा करते थे। उनका पुत्र शंभु भट्ट अब पत्र में 'भट्ट' की जगह 'हेग्गड़े' लिखकर यह सूचित करता रहता था कि मंदिर का काम कहां तक बढ़ गया है। नये-नये ताश-खिलाड़ी की तरह अपने हाथ के जो पत्ते मैंने हेग्गड़ेजी को दिखा दिए थे, वह उचित किया या अनुचित—इस बारे में विभिन्न प्रकार की शंकाएं मन में उत्पन्न हो रही थीं। मुझे बार-बार

शंका हो रही थी कि यशवंतरायजी की धरोहर को मैं जिस ढंग से कार्य पर लगा रहा हूं, वह मुझे सौंपी गई जिम्मेदारी के अनुरूप है भी या नहीं?

जो काम बेनकनहल्लीवालों को करना चाहिए था, उसकी जिम्मेदारी अपने मित्र की ओर से अपने सिर पर ले ली थी—केवल इसलिए कि उनकी धात्री मां को संतोष हो सके। बेनकय्या के प्रति जितना विश्वास यशवंतरायजी रखते थे, उतना ही मैं भी रखता था, यानी इस प्रकार की पूजाओं में हम दोनों का विश्वास कम ही था। यदि वह जिंदा होते तो पता नहीं, इस मंदिर का उद्धार करने के लिए तैयार होते भी या नहीं? हां, कोई वास्तुकला होती, तो उसका उद्धार करने में मुझे विशेष प्रशंसा होती। यह बेनकय्या (गजानन) तो केवल गोल-गोल गजानन हैं। मेरे लिए संतोष का एक ही मुद्दा था और वह यह कि पार्वतम्मा अपनी यह इच्छा यशवंतरायजी के सामने रखतीं, तो वे इसे अक्षरशः पूरा करते, इसका मुझे पूरा विश्वास था। उनके मन को तसल्ली देने से बढ़कर और कोई काम न हो सकता था। अगर मैं थोड़ा भी कुशल होता, तो अपने तमाम पत्ते छिपाकर रखता। चार दिन वहां रहकर शंकर हेग्गड़े को आगे कर देता। 'ग्राम के मुखिया आप ही हैं, मंदिर को इस तरह खंडहर होते देखते रहना क्या आपको शोभा देता है?' कहकर उलाहना देता रहता। उसके बाद उनकी प्रशस्ति गाकर, उनमें जोश पैदाकर 'आपका नाम अजर-अमर हो जायेगा' कहकर धन-व्यय के भार से मुक्ति पा सकता था। अब मंदिर जब तक बनकर पूरा नहीं हो जाता, मुझे बार-बार उस गांव में जाना पड़ेगा। इतना करने पर भी लगता है कि उस गांव में भक्त कम और धन के लालची अधिक हैं। नहीं तो क्या मंदिर खंडहर की तरह पड़ा रहता? राम हेग्गड़े-से तीन-चार और लोग तो वहां होंगे ही न? मैं ज्यादा उत्साह दिखा रहा हूं, पीठ पीछे वह मेरे प्रति शंकाएं भी व्यक्त करते होंगे, 'ये उतनी दूर से आकर हमारे गांव में बेनकय्या का मंदिर बना रहे हैं, इसमें कोई-न-कोई राज जरूर है।' 'राज', 'कोई' का मतलब—दस लोगों का चंदा निगल जाना। खैर, अपने मित्र की वजह से मैं कहीं गलत भटक भी गया हूं, तो कोई बात नहीं। अपरिचित गांव के प्रति इस तरह का शक करना ठीक नहीं। मैंने मान लिया कि ताश के पत्ते दिखाकर मैंने उचित ही किया।

लौटकर जब मैं गांव पहुंचा, तो सर्दी का मौसम शुरू हो चुका था। उसके बाद गर्मी आई। शंकर हेग्गड़ेजी का बिल भी प्रतिमास आया करता था। शंभु हेग्गड़े काम की प्रगति का ब्यौरा देता रहा, "हमने बारिश रुकने के दूसरे ही दिन पुराने मंदिर की छत गिरवा दी। छत का धरन किसी मतलब का नहीं है। दीवारें बिलकुल झर चुकी हैं, इसलिए फर्श तक उन्हें गिराना पड़ा। फर्श पत्थर का होना चाहिए न?" और एक बार लिखा था, "पिताजी ने लकड़ी के काम के लिए आंगन के कुछ पेड़ कटवा लिये हैं। लेकिन हमारे यहां लकड़ी चीरनेवाले नहीं मिलते। बढ़ई तक नहीं है। कुमटा या सिरसी से उन्हें बुलाना होगा। वे दुगुना पैसा भी मांग सकते हैं।"

मैंने जवाब में उन्हें लिख दिया था, "ऐसा ही कीजिए। विश्वासपात्रों को बुला लीजिए, लेकिन पेशगी देकर खामख्वाह की परेशानी मोल मत लीजिए।" उसके बाद फिर एक पत्र आया कि पत्थर का काम शुरू हो चुका है। दीवारें खड़ी करने का काम भी जोरों से चल रहा है। बढ़ई भी आ गए हैं। गर्मियों की समाप्ति तक मंदिर की छत पड़ जाएगी, आदि-आदि। इस आशापूर्ण पत्र के बाद जो पत्र मिला, उसमें लिखा था, "राम हेग्गड़ेजी कहते हैं कि जो भी काम किया जा रहा है वह अच्छा हो। मंदिर के गर्भगृह के सामने का मंडप कुछ बड़ा होना चाहिए, ताकि कुछ अधिक लोगों के बैठने की जगह बन सके। वह तो यह भी कहते हैं कि गर्भगृह की दीवारों को कुछ और ऊंचा उठाकर उन पर तांबे की चादर मढ़वा दी जानी चाहिए। किया गया काम टिकाऊ तो होना ही चाहिए।"

वहां से मैंने मंदिर की नाप मंगवा ली थी और नक्शा तैयार करके भेज दिया था। अब फिर नया नक्शा तैयार करके भेजा, ताकि मंदिर के गर्भगृह की दीवारें ऊंची उठ सकें। "अब तक तो तुम्हारा बेनकय्या घास की छावनी में भीगता रहा। मंदिर की छत पर मिट्टी के खपरैल तक नहीं थे," मैंने जवाब में लिखा, "मंगलूर में खपरैलों का छज्जा पर्याप्त है। यदि आपके राम हेग्गड़ेजी उदार होकर तांबे की चादरें मंगवा दें, तो खुशी के साथ उन्हें मढ़वा दीजिए।" इस पर शंभु का जवाब आया, "महाशय, पचास रुपये देने का वायदा किया था, अब वह पचास रुपये देने को भी तैयार नहीं है, ऐसा मुझे लगता है। इसके बदले पार्वतम्मा के कान भरकर वह मेरे खिलाफ उल्टी-सीधी बातें कहलवा रहे हैं।"

यह भी बड़ी मजेदार बात थी। शंकर हेग्गड़े और पार्वतम्मा से उन्होंने सुना होगा कि यशवंतरायजी की कुछ पूंजी मेरे पास है, तो भला नेतृत्व करने से पीछे क्यों हटें? एक दिन उन्होंने पार्वतम्मा से यह भी कहा बताया जाता है कि "तुम तो बिल्कुल बुद्धू हो। अपने खर्च के लिए कम-से-कम पचास रुपये माहवार तो मांग ही सकती थीं। वह भी छोड़ दिया। तुम्हारे साथ अब तक इतने आदर से पेश आया हूं और तुम्हीं मुझे बड़प्पन दिखाने लगी हो। वह, जो दूत (यानी मैं) बनकर आया था, यशवंत के परिवार का भी नहीं है, उससे इतना लगाव ! यदि मैं होता तो सारी धनराशि तुम्हारे चरणों में अर्पित करता। लेकिन चलो, तुमने ऐसा नहीं किया। तुमने मंदिर बनाने की बात कही, यह एक अच्छी बात है। वह तो होना ही था। मेरी भी उसमें कम दिलचस्पी नहीं है। मंदिर है न, मंदिर? बेनकय्या कोई ऐरा-गैरा देवता थोड़े ही है? उसके मंदिर पर तांबे की ही छाजन होनी चाहिए। एक-दो हजार रुपये ज्यादा भी लग जाएं, तो क्या हो जाएगा? उसके बाप की रकम तो नहीं है न वह। यशवंत की रकम है, उसे देनी चाहिए। इसी गांव में बड़ा हुआ था यशवंत। वह होता तो जरूर देता।"

"देखो मैंने सुना है कि यशवंत कुमटा छोड़ते समय अपने साथ दो लाख रुपये ले गया था। पत्नी तथा पुत्र पर क्रोध के कारण उन्हें अंगूठा दिखाकर चला गया था। बंबई

में राजकुमार की तरह दरबार लगाकर ऐश करता रहा और एक दिन चल बसा। तुम्हें कितना रुपये भेजता था वह? महीने में पांच रुपये, बस। परसों तुम्हारे घर जो व्यक्ति आया था न, उसके हाथ पचास हजार से कम रुपये नहीं पड़े होंगे। हो सकता है, एक लाख हों। यह सारा रहस्य कोई बता सकता है?" इस प्रकार राम हेग्गड़े उस बुढ़िया के कान भरते रहे। ये सारी बातें मुझे शंभु के पत्र से ज्ञात हुईं। मुझे महसूस हुआ कि शंभु इतनी सारी झूठी बातें खुद गढ़कर नहीं लिख सकता।

इस बीच सर्दी के मौसम की शुरुआत के लगभग शंभु का एक विस्तृत पत्र मुझे मिला। इसमें उसने पार्वतम्मा की परेशानी का जिक्र किया था, "आपने छत के बारे में जो बातें लिखी हैं, मैंने उन्हें दादी को पढ़कर सुनाया। वह आपकी राय उचित मानती हैं, लेकिन पड़ोसी राम हेग्गड़े के तानों से वह तंग आ चुकी हैं। वह बार-बार मेरे पास आकर कहती हैं कि वह बार-बार कहता है, 'इतने दिनों तक जब तुम्हारे पास कुछ भी नहीं था, हम ही तुम्हारी रोजी-रोटी का इंतजाम करते रहे। अब तुम पांच रुपया मिलने पर अपने को स्वतंत्र बताने लगी हो। हमारी क्या गरज रह गई है तुमको? मैं कहता हूं कि उस व्यक्ति के नाम पत्र लिखकर यशवंत की रकम में से अपने लिए कम-से-कम पचास रुपये मंगा लो, तुम वह भी नहीं मानतीं। यदि बीमार पड़ गईं, तो तुम्हारा देखने वाला कौन है? क्या तुम्हारी कोई जायदाद है? कोई संपत्ति है? दस-बीस की हमारी चाकरी करके पेट पालती रहीं और फिर बूढ़ी हो गईं। हमने तो तुम पर तरस खाकर तुम्हें पाला-पोसा। तुम क्या समझती हो कि इसी तरह आगे भी हम तुम्हारा लालन-पालन करते रहेंगे?' यह कहकर वह अकसर उन्हें सताया करता है।"

मैं घबरा गया। 'रकम रमा है', 'धन लक्ष्मी है' माननेवाली पार्वतम्मा की 'धन को राक्षस', 'श्री को शैतान' मानकर कसक से जीना पड़ रहा होगा न? उनको साधन बनाकर किसी पराये व्यक्ति के रुपये मुझसे लूटने की योजना बना ली थी उन्होंने। बेनकय्या का मंदिर तो एक बहाना मात्र था। पार्वतम्मा को बुढ़ापे में दुखी करने से उन्हें कुछ-न-कुछ लाभ तो हो ही जाएगा, यह दुराशा उनके मन में घर करने लगी है। पार्वतम्मा पर इसका दबाव दिन-ब-दिन बढ़ता गया और पार्वतम्मा की परेशानियां दिन-ब-दिन बढ़ती चली गईं। यदि मैं हर माह पच्चीस रुपये भेजने भी लगूं, तो वे शंभू या डाकिये की जेब में न पड़कर राम हेग्गड़े की जेब में पड़ने लगेंगे। पैसा तो ताजा नमक है। उसे थोड़ा-सा जीभ में रख लें, तो स्वादिष्ट लगे, ज्यादा खाएं, तो पेट में जलन शुरू। प्रति माह दस रुपये के हिसाब से मैं पार्वतम्मा को पैसा दे आया था। इसी से उनका ढाह बढ़ चला। 'उनके पालित पुत्र का धन है' कहना ही राक्षसी प्यास को बुझाने का जोरदार साधन बन गया। मैं चिंतित इसलिए हो रहा था कि मेरे अविवेक से पार्वतम्मा के बुढ़ापे की शांति में खलल पड़ गया है। वर्ष-दो वर्ष की ही जिंदगी तो और बितानी है उन्हें। क्या वह उस जगह को छोड़कर

जा सकती हैं? तात्कालिक व्यवस्था के लिए शंकर हेग्गड़ेजी को पत्र लिखने के सिवा कोई दूसरा चारा नहीं दिखाई दे रहा था। मैंने लिख दिया, "अपनी बड़ी बहन के दूसरे प्राण की तरह जी रही पार्वतम्मा को अपने यहां रखकर आप उसका लालन-पालन करें। उसमें जो भी खर्च लगेगा, मैं देने के लिए तैयार हूं।" ऐसा लगता है कि उन्होंने अपनी बड़ी बहन से परामर्श किया होगा। शंभु ने अपने पत्र में लिखा था कि फूफी से उसने यह बात कह दी है। इन सब कार्यों में बिचौलिये की तरह दौड़-धूप का काम शंभू को ही करना पड़ता था। मेरा प्रस्ताव हेग्गड़ेजी ने मान लिया। परंतु उनकी बड़ी बहन में पार्वतम्मा को साथ ले जाने के लिए उत्साह काफी बढ़ गया था। सुना है कि इस सूचना को एलची की तरह अपनी सहेली के घर वह ले गई और खुशी-खुशी उसे आमंत्रण दे आई। लेकिन उनको भी थोड़ा बहुत शक था पार्वतम्मा के आने में। राम हेग्गड़े चाहे कितना ही लालची, लोभी और वंचक क्यों न हो, उसने उन्हें आश्रय तो दिया ही था इतने दिनों तक; ऐसे पड़ोस को छोड़कर पार्वतम्मा चली जाएंगी, इसमें उन्हें भी संदेह था। और फिर पुरानी दुश्मनी का सवाल था। शंकर हेग्गड़ेजी के पिता के मन में उसके साथ अपनी बेटी की बातचीत पर भी कोप हो गया था, तब ऐसी स्थिति में उनके घर जाकर पार्वतम्मा रहने लगी, तो मृतक का प्रेत क्या कहेगा? क्या ऐसी भावना पार्वतम्मा के मन में नहीं आयेगी? मूकांबिका के मन में बार-बार यह संदेह उठ रहा था। मूकांबिका कभी-कभी पार्वतम्मा के घर जाया करती थी, उसी तरह पार्वतम्मा भी कभी-कभी उसके घर जाने में हिचकती नहीं थी। मूकांबिका ने सोचा यदि पार्वतम्मा से जाकर कहूं कि, 'हमारे ही यहां आकर रहो', तो क्या वह मान न जाएगी?

शंभु के पत्र से मुझे पता चला कि मूकांबिका की यह कोशिश विफल रही। मूकांबिका के दोनों संदेहों के बीच वह फड़फड़ाती रही। सुना कि पार्वतम्मा के उत्तर ने मूकांबिका को काफी निराश कर दिया—"मूकांबू, क्या किसी की सुने बिना मैं अब तक जीवित रही हूं? जब मैं ऊपर वाले घर में थी, तब क्या कोई मुझसे कुछ कहता नहीं था? यशवंत की सौतेली मां ने, जो न कहना चाहिए था, वह भी कहा। मुझसे कुछ भी न कहने वाली कोई थी, तो यशवंत की मां। उसके बाद तो चाहे राम हेग्गड़े हों, चाहे उसके पिता, सभी ने मुझे खरी-खोटी सुनाई। क्या उन्हें मालूम नहीं था कि मेरा कोई नहीं है, पेट भरने आई हूं! सुबह से रात तक जी-तोड़ काम करवाते थे और उसके बाद गालियों की बौछार सुनने को मिलती थी। मैंने सोचा, मेरा जीवन ही गालियां सुनने के लिए है। अब तो मैं आंखों से ठीक से देख भी नहीं सकती हूं; मेहनत भी नहीं कर सकती हूं। कहते हैं, तो कहें। जिनको मैं अपने बच्चों के समान मानती हूं, वही मुझे गाली दे रहे हैं न? मर जाऊंगी, तो उसके बाद जरूर कहेंगे, 'हाय ! पार्वती मर गई। हम सब इतनी गालियां देते थे, फिर भी कभी उसने जबान नहीं खोली।' गालियां देना भी एक जन्मजात गुण है।"

उधर शंभु के पत्रों से मालूम होता रहता था कि राम हेग्गड़ेजी की हरकतें बढ़ती जा रही हैं, इसके अलावा उन्हें यह भी पता चल गया था कि मूकांबू पार्वतम्मा को अपने घर लिवाने आई थी। उसी दिन से हेग्गड़ेजी ने "ओ-हो-हो हो . . . पार्वती से मेरा कहना ज्यादती हुआ न ! तुम्हारी भलाई के लिए मैंने कहा, तो तुमने गांव-गांव उसकी खबर फैला दी। फैलाओ, ओर फैलाओ। तुम इस बुढ़ापे में शंकर हेग्गड़े के घर बारात-जुलूस से जाकर आराम से रहने लगो। इससे हमारा क्या बिगड़ने वाला है?" कहकर ब्रह्मास्त्र भी छोड़ दिया। उस दिन रात-भर पार्वतम्मा तड़पती रहीं। मैं उनकी स्थिति का भली-भांति अनुमान कर सकता हूं। सुना है कि दूसरे दिन सवेरे ही राम हेग्गड़ेजी ने अपनी पत्नी के हाथों एक शुभ संदेश और भिजवा दिया—"जाओ। महामाता, शपथ-सौगंध वाले घर में जाओ, वहीं प्राण छोड़ना। कल तुम्हारी हत्या हो जाए, तो श्राद्ध करने वालों को भी बेसहारा कर जाओ। सारे गांव वाले सताए जाएं। अब हमारे घर की सीढ़ी चढ़ने की कोई जरूरत नहीं।" इस प्रकार कहकर स्नेह का अंत कर दिया उन्होंने। परंतु बेचारी पार्वतम्मा शिव की तरह उस जहर को पी गई। कोई प्रतिवाद नहीं किया। शंभु ने आगे लिखा था, "इसी तरह यदि होता रहा, तो मुझे लगता है कि दादी चिंता में घुट-घुटकर, भूखी रहकर कमजोर होती चली जाएगी और तब उसके लिए अगली वर्षा ऋतु देख सकना भी मुश्किल हो जाएगा।" यह पढ़कर मुझे डर लगने लगा। बेनकय्या के मंदिर का उद्धार किसलिए? मैंने यशवंतरायजी के नाम पर यह जो जिम्मेदारी उठाई है, वह किसकी शांति के लिए? मैं उकताने लगा।

हम पढ़े-लिखे लोग ग्राम्य-जीवन की शांति के स्वरूप के बारे में लंबी-चौड़ी बातें किया करते हैं। विकृत मनुष्य हमारे गांवों में क्या कम हैं? मुझे लगा, वे जो 'शांतिस्वरूप' फैलाते हैं, उसका रूप कितना विराट है ! किसी की परवाह किए बिना यदि मैं उस बूढ़ी को रुपये भेजता रहता, तो अच्छा रहता। न शंभु पर संदेह होता, न पार्वतम्मा का कष्ट बढ़ता। अब जब मैंने ही सब कुछ कुरेदकर रख दिया है, तब दो सौ मील दूर से ज्ञानी पंडित की तरह उपदेश लिख भेजना उस उपदेश को आत्मसात करने वाले को कष्ट में डालने के ही समान है। एक-दो दिन तक मेरा मन उद्विग्नता से खौलता रहा। शंभु को मंदिर के बारे में चार बातें लिख दीं। और कुछ भी नहीं लिखा। मैंने सोचा, इसके बजाए कि यहां से कष्ट बढ़ाने के लिए उपदेश लिखकर भेजूं, अच्छा-हो कि चार-पांच दिन अच्छी तरह सोच-विचारकर पार्वतम्मा के गांव जाऊं और उनके वास का प्रबंध खुद करके आऊं।

इसी बीच कुछ और कहर मैंने अपने ऊपर ढहा लिया था। यशवंतजी के जो और तीन अशनार्थी थे, उनसे पत्र द्वारा रायजी की मृत्यु का समाचार देते हुए विनती की, "उनके बारे में आप जो कुछ जानते हैं, मुझे लिख भेजें। आपका बड़ा उपकार होगा।" थोड़े ही दिनों बाद विष्णुपंत घाटे से जवाब भी आ गया। लगता था, यशवंतजी का वे बड़ा आदर करते हैं। मेरे मित्र वर्ष में एक बार महाबलेश्वर जाया करते थे और कुछ समय वहां भी

बिताया करते थे। घाटेजी अब वहां नहीं रहते, पूना में अपनी बेटी के यहां रहा करते हैं। वहां उनको अपने लेखन-कार्य और अभ्यास के लिए अधिक सुविधाएं मिल जाती हैं। उन्होंने अत्यंत विनयपूर्वक लिखा था, "मेरा स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहा करता। अस्थमा का दर्द हमेशा बना रहता है। मैं अध्ययन और लेखन में समय बिताने वाला आदमी हूं, यशवंतजी की सहायता और प्रेरणा से ही इस कार्य में संलग्न हो सका हूं। वे ही मेरी वास्तविक प्रेरक शक्ति रहे। आप कौन और मैं कौन ! फिर भी आप उन द्वारा दी जाती रही सहायता को जारी रखे हुए हैं। उस सहायता को आप आगे बढ़ाते रहे हैं, इसके लिए मैं आपका अत्यंत ऋणी हूं। यदि कभी पूना आने का विचार हो, तो हमारे घर आकर ठहरें। यशवंतजी के बारे में जो कुछ मैं जानता हूं, आपको बताऊंगा।" उनके पत्र से मुझे लगा कि उनके मन में यह धारणा उत्पन्न हो गई है कि मैं अपनी निजी रकम में से उन्हें कुछ भेजा करता हूं। मैंने उनके नाम पत्र लिखा, "ऐसा नहीं है। मैं उन्हीं के निर्देशानुसार उनकी रकम में से आपके लिए पैसा भेजा करता हूं।" साथ ही यह भी लिखा, "जब कभी पूना आने का मौका लगेगा, आपसे अवश्य मिलूंगा।" उसके बाद मेरे मन में जो एक और कुतूहल उत्पन्न हो गया था उसके बारे में पूछा, "आपने लिखा है कि लेखन-कार्य करता हूं। किस तरह का लेखन-कार्य करते हैं? मुझे लिखने की कृपा करें।" करीब एक महीने बाद या उससे भी कुछ बाद उनका एक पत्र आया, जिसमें लिखा था कि जवाब देने में विलंब होने का कारण उनकी बीमारी थी। अपने लेखन-कार्य के संबंध में उन्होंने लिखा था, "धर्मशास्त्र के बारे में अपनी चुलकन पूरी कर रहा हूं।" फिर वह लिखा-पढ़ी मैंने आगे नहीं बढ़ाई।

अन्य दो अशनार्थियों में से एक थे–कुमटा के समीप रहने वाले होन्नगछे मंजय्या जी। एक बार मैं भी होन्नगछे गांव गया था। वह कुमटा से तीन-चार मील की दूरी पर है। वहां आधी रात में दस-बारह श्रोताओं के बीच एक भाषण दिया था। सोचा, एक बार और कुमटा जाना पड़ेगा। इन मंजय्याजी से मिल लूंगा। मैंने उनको कई कार्ड लिखे थे। चार-पांच महीनों तक तो उनसे कोई जवाब ही नहीं मिला, परंतु मनीआर्डर कूपनों पर उन्हीं के हस्ताक्षर थे। उन हस्ताक्षरों के अक्षर कांपते हुए हाथ से लिखे गए जैसे लगते थे। इसलिए मुझे पत्र न मिलने की शिकायत नहीं करनी चाहिए। वे बूढ़े हैं, इसलिए मुझे ही वहां जाकर बातचीत करनी चाहिए। दूसरा अशनार्थी भी कुमटा गांव के आसपास का ही था। मुद्दत बाद उसका एक खत प्राप्त हुआ था। उन्होंने भी उपकार-स्मरण किया था। आगे उन्होंने लिखा था कि यशवंतजी की मृत्यु का समाचार सुनकर उनकी मां ने तीन दिन अन्न-जल ही नहीं छुआ। फिर मैंने पूछा था, "आप कौन हैं? आपकी मां कौन हैं?" इनका जवाब उन्होंने नहीं दिया। फिर कुरेदकर उन्हीं प्रश्नों को पूछने की इच्छा नहीं हुई, इसलिए चुप रहा। इस व्यक्ति का नाम धारेश्वर शीन (श्रीनिवास) था। धारेश्वर नाम तो मेरा सुना हुआ था। वह गांघ भी मैंने देखा था। परंतु वह किसी कोडकणी नामक गांव में जाकर बस गया था। कुमटा जाने पर यदि जरूरी हुआ तो उससे भी मिलूंगा।

इधर शंभु हेग्गड़े के तीन और पत्र प्राप्त हुए। उसने जोर देकर लिखा था, "आपने दादी के बारे में कुछ भी नहीं लिखा। वह अभी वहीं हैं। राम हेग्गड़ेजी के कारण वह दिन-ब–दिन दुखी होती जा रही हैं। हमने उन्हें अपने घर बुलाया था, पर वह आतीं ही नहीं ! इन दो महीनों में ही वे काफी कमजोर हो गई हैं, मुझे संदेह है कि अगली चतुर्थी तक यानी बेनकय्या की मूर्ति की स्थापना करने तक बची भी रहेंगी या नहीं ! देवस्थान को अलग कर दिया है। मूर्ति की स्थापना से पूर्व पूजा नहीं हो सकती। अब तक आप सारे उपदेश दादी की इच्छापूर्ति के लिए करते रहे। यदि वह जल्द ही मर गईं, तो समझिए भगवान ही मालिक है। न इधर के रहेंगे, न उधर के, वह बेनकय्या ही हमारी रक्षा करे।" इस तरह पत्र समाप्त करते हुए अंत में उसने लिखा था, "मंदिर की दीवारों का काम एक हफ्ते में पूरा हो जाएगा। लकड़ी का काम चल रहा है, शीघ्र ही बल्ले चढ़ा दिए जाएंगे। खपरैल अभी तक नहीं पहुंचे हैं।"

ये तमाम बातें याद करता हूं, तो कभी-कभी मुझे हंसी आती है। मैंने जो नक्शा तैयार किया था उसके अनुसार बने वेनकय्या के मंदिर की तसवीर मेरी आंखों में साफ-साफ उभर आती थी। पहले के स्थान पर नये मंदिर का हिस्सा-हिस्सा मेरी आंखों में चमक उठता है। छत का काम पूरा हो गया है। दीवारों की लीपापोती भी समाप्त हो गई है। पार्वतम्मा की मनौती के अनुसार प्रातःकालीन पूजा के अवसर पर हजारों नारियल मंदिर पर पड़े हुए हैं। कभी-कभी लगता है कि मंदिर आधे पर ही रुक गया है और बेनकय्या धूप में सूख रहा है। राम हेग्गड़ेजी का शाप सच हो रहा है। पार्वतम्मा मरकर प्रेत बन गई है। बेनकय्या के मंदिर तक प्रेत की तरह चिल्लाती रहती है। उसे सुनकर मैं डर गया हूं। लेकिन ये सपने हैं। बस यही तो अंतर है। जब तक सपना रहता है, तब तक आदमी को सुख-दुख, भय-भीति वगैरह सब सच लगते हैं। कहा जाता है न कि जीवन एक माया है! इसी तरह स्वप्न भी एक माया है। कैसे? मरने पर वह हमारे लिए माया हो जाता है। जब तक जीते रहते हैं, सुख-दुख, भय-भीति सभी कुछ सच लगते हैं, और ये सुख-दुख यदि माया लगें, तो हमें यह जानने के लिए कि अपने सुख-दुख माया हैं या नहीं, अपने रहन-सहन का अनुशीलन-परिशीलन करना चाहिए।

युगादि बीत गया। चैत्र शुक्ला प्रतिपदा भी खिसक चली। शंभु ने लिखा है कि बेनकय्या मंदिर की दीवारों पर छत पड़ गई है। उस पर जब सूर्य का प्रकाश पड़ता है, तो हरे-भरे बांसों के बीच वह अत्यंत सुंदर लगता है। इसके साथ ही दो-तीन पंक्तियों में उसने अपनी यह प्रबल इच्छा भी प्रकट की थी, "स्वामी ! लिख-लिखकर तंग आ चुका हूं। आप एक बार यहां अवश्य आइए। जो काम हो चुका है, उसे देखने के लिए ही सही; पार्वती दादी से मिलने के लिए ही सही।" मेरी खुद की अंतरात्मा मुझे कुरेद रही थी। मंदिर तो ऊपर उठ ही चुका है। लिपाई-पुताई नहीं हुई है, तो वह भी हो जाएगी। विग्रह की प्रतिष्ठा तो

की ही जा सकती है। किंतु उस बारे में सोचने की अधिक जरूरत नहीं जान पड़ी। सबसे जरूरी काम था—पार्वतम्मा से मिलना। मैं सोच में पड़ गया था कि जाऊं या न जाऊं?

उन्हीं दो दिनों में अचानक एक अनपेक्षित पत्र आया। यशवंतरायजी की मृत्यु का समाचार धीरे-धीरे कुमटा तक फैल चुका था, यही उस पत्र के आने का कारण था, पत्र इस प्रकार था, "स्वामी ! आप कौन हैं, क्या हैं, मैं नहीं जानता। यदि मेरे पत्र संबोधन और लिखने की रीति-नीति में त्रुटियां हो गई हों, तो मुझे क्षमा करें। आपको जरूर मालूम हो गया होगा कि मैं कौन हूं, क्या हूं। लेकिन आपने कभी जानने का प्रयत्न नहीं किया। दुख होता है। हमारे पिताजी की मृत्यु का समाचार आपको हम तक भेजना चाहिए था। उनके श्राद्ध-पिंडादि का अधिकार केवल हमी को है। आपको कम-से-कम मेरी जीवित मां को तो सूचना देनी ही चाहिए थी न?

"ऐसी स्थिति में आप बेनकनहल्ली की एक दादी के घर जाकर मेरे पिताजी के नाम पर बड़ी-बड़ी डींगे हांक रहे हैं। जो भी सुनेगा, उसे आश्चर्य होगा। पिताजी की संपत्ति, रुपये-पैसे, जमीन-जायदाद के हकदार आप नहीं, मैं हूं। सुना जाता है कि उनकी काफी पूंजी आपके हाथ लगी है। उनकी मृत्यु का समाचार हमें न देने का यही कारण रहा होगा। जो भी हो, कम-से-कम अब उनकी बची-खुची संपत्ति का ब्यौरा हमें दें और उसे हमारे हवाले कर नियमानुसार हमसे उसकी रसीद प्राप्त करें, वरना वकील के माध्यम से बाकायदा कानूनी कार्रवाई की जाएगी। आपको इस बात की जानकारी देना हमारा फर्ज था, इसीलिए यह पत्र लिखा।

इति।

चोच्चलमने सीताराम हेग्गड़े।"

पत्र पढ़कर मन को अच्छा लगा। कम-से-कम उसे यह तो विश्वास हुआ कि मृत्यु के वक्त पिताजी के पास चार पैसे बच गए थे ! कम-से-कम अपने पिता का श्राद्ध-पिंड देने की सद्बुद्धि तो उसे आई। करीब पंद्रह वर्ष बाद अपने पिता की याद आई थी पुत्र को ! साथ ही यह जानकर दुख भी हुआ कि उसकी मां कमलम्मा अभी जीवित है। कुछ भी क्यों न हो, सुहागिनी को अपने सुहाग का उजड़ना अवश्य अखरता है। मुझे क्रमानुसार कार्रवाई करने वाले इस मित्र से मिलना चाहिए। मैं उससे जरूर मिलता, लेकिन इतनी जल्दी मिलने की बात मैंने नहीं सोची थी। मुझे यदि मालूम हो जाता कि वे सांप्रदायिक व्यक्ति हैं, तो बंबई से लौटने के तुरंत बाद मैं उनके पुत्र को उनकी मृत्यु का समाचार दे देता। किंतु मेरे मित्र का रोजनामचा और विश्वास बीच में आ गए थे न!

अपनी स्मृति-पुस्तिका के प्रथम पृष्ठ पर ही यशवंतजी ने लिखा है :

"मैं जीवित हूं अब; लेकिन मृत्यु के बाद नहीं। जन्म लेने से पहले ही मैं मर चुका था। मरने के बाद केवल मेरे रहन-सहन की स्मृति बचेगी, मैं नहीं। मैं ही नहीं हूं, तो मेरे

लिए किए जाने वाली श्रद्धादि क्रियाएं भी नहीं होनी चाहिए। मुझमें जो गुण है, उसे अपने जीवन में उतारना ही मेरा श्राद्ध है। ऐसा श्राद्ध कोई भी व्यक्ति किसी के लिए कर सकता है। यह तो मानवता के लिए किया जाने वाला श्राद्ध है, किसी एक व्यक्ति के लिए नहीं। मानव चिरंतन है, हम चार दिनों की चांदनी हैं।"

यशवंतरायजी का मनोधर्म ही जब ऐसा था, तो उनके जीवित रहते हुए उनके प्रति अश्रद्धा दिखाकर, उनसे लड़-झगड़कर, मृत्यु के बाद उनकी याद करने और श्राद्ध करने में क्या रखा है? वह तो केवल काक-पिंड होगा। उसमें पितृभक्ति की तनिक भी दीप्ति न होगी और न आ सकेगी।

इसलिए, मैंने कुमटा स्थित उनके पुत्र का पता जानने में अधिक जल्दबाजी नहीं की। फुरसत से उनसे परिचय कर सकता था। जो भी हो, उनकी बैंक-बुक में लगभग डेढ़ हजार रुपये बचे हुए हैं। वे तो बैंक वालों को भेंट नहीं हो सकते। कानूनन वह रकम उनके वारिसों को मिलनी चाहिए। यदि मैं इस रकम की खबर पहले ही उनके घर वालों को दे देता, तो अच्छा रहता। अब यशवंतजी के पुत्र के पत्र का जवाब देते हुए ये चार बातें लिख दीं :

"यह जानकर बड़ी खुशी हुई कि आप मेरे मित्र यशवंतरायजी के पुत्र हैं। सुनी हुई बातों के आधार पर आपने मुझ पर दोष लगाया है। अगर आपको फुरसत हो, तो यहां पहुंचें। यह सच है कि आपके पिताजी का धन मेरे पास है। उन्होंने मरने से पूर्व ही अपनी इच्छानुसार धन के खर्च किए जाने की हिदायत लिखकर ड्राफ्ट मेरे नाम भेज दिया था। उनका आदेश-पत्र आप देख सकते हैं। उनके कुछ चित्र तथा पुस्तकें भी मेरे पास सुरक्षित रखी हैं। आप आकर उन्हें ले जा सकते हैं। बंबई ओवरसीज बैंक के 2516 नंबर के एकाउंट में 1613-7-10 रुपये बचे हैं। आप ही सीधे बैंक को लिखकर शीघ्रातिशीघ्र मंगा लें। आपके वकील कोई और रास्ता या कायदा बताएं, तो उसके अनुसार भी कार्य कर सकते हैं।"

इस उपद्रव को उठाने वाले महाशय कौन हैं, यह जानने की इच्छा भी मुझ में जगी। मेरी नजर में एक ही व्यक्ति पड़ा, राजेश्री राम हेग्गड़ेजी। उनकी याद से उनके पिता की याद आए बिना भी न रही। यशवंत पर जाल फेंककर, कर्ज देकर उसे जाल में फांस लिया था उन्होंने। मछली पकड़ने की बड़ी क्षमता थी उनमें। ब्राह्मण भी इस प्रकार के मत्स्य-व्यापार को अपने जीवन की शोभा समझने लगे हैं। ऐसी स्थिति में पार्वतम्मा के निस्स्वार्थ व निरपेक्ष जीवन का आदर करेंगे क्या ये लोग?

सीताराम हेग्गड़े को जिस दिन पत्र लिखा, उसी दिन शंभु हेग्गड़े को भी पत्र लिख दिया था, "इस पत्र के आप तक पहुंचते-पहुंचते मैं स्वयं गांव पहुंच जाऊंगा।" पत्र के वेग को भी मात देकर मैं कुमटा गया; वहां से सिरसी होते हुए स्वादी जाकर बेनकनहल्ली पहुंचा। जाते समय मैं कुमटा में नहीं रुका। इस बीच सीताराम हेग्गड़े को मेरा पत्र मिल गया था

या नहीं, इसकी मुझे कोई जानकारी नहीं। इस बारे में भी मुझे शक था। लौटते वक्त भी कुमटा जाने की इच्छा नहीं हुई। कुमटा जाने पर कम-से-कम-आठ दिन तो मुझे वहीं बिताने ही पड़ेंगे। यशवंतजी के दो अशनार्थी वहां हैं। उनके परिवार की भीतरी-बाहरी जानकारी के लिए अन्य लोगों से भी मिलना ही होगा। सब बेनकय्या के अनुग्रह पर हो जाएगा—यह सोच मैं आगे बढ़ा।

अब की बार स्वादी जाने के लिए बैलगाड़ी नहीं लेनी पड़ी। बसों का आवागमन शुरू हो चुका था। डेढ़ घंटे में यात्रा समाप्त हुई। जिस मार्ग से पहले बेनकनहल्ली गया था, उसी से अब भी गया। तब वर्षा का मौसम था। अब गर्मी का मौसम है। धूप के कारण बनश्री थकी-सी लगती थी। यत्र-तत्र पंछी चहचहा रहे थे। पत्ते-विहीन बड़े-बड़े शाल्मली वृक्ष के फूलों को डालियों से गिरते देखा। पसीने से तर हो चुका था। प्यास बुझाने के लिए लंबे-लंबे डग भरता बेनक के टीले तक आया। मंदिर के चारों ओर की पेड़ो की झुरमुटों और बांसों की झुरमुटों को साफ कर दिया गया था। नये मंदिर की छत पर खपरैल छाए हुए थे। यह सब देखकर मुझे संतोष हुआ कि शंभु ने पाप का प्रायश्चित कर लिया है। मंदिर की लाल छत देखकर फूला न समाया। सोचा कि पार्वतम्मा ने इतना तो देख ही लिया होगा? अगर न देखा हो, तो चतुर्थी तक उसके प्राण टंगे रहेंगे। मैं दूर से मंदिर को देख रहा था। मैं यह सपना देख ही रहा था कि हवा के धीमे झोंकों के बीच शंभु की आवाज मेरे कानों में पड़ी।

"आ गए न? मुझे शक था कि यदि आप न आए, तो वह क्या करेगी?" इन बातों से शंभु ने मेरा स्वागत किया। उस मंदिर की चार बार परिक्रमा करवाई। आंखें धंसाकर मैंने उसे देखा। लकड़ी का काम पूरा हुआ था। पुराने ढंग के मोटे-मोटे खंभों, कारनिस और बल्लों पर सुंदर नक्काशी की गई थी। मंदिर के अंदर लिपाई-पुताई हो रही थी। मैंने शंभु की पीठ ठोंकते हुए कहा, "शाबाश !" मेरे सामने कीड़े की तरह रेंगनेवाला शंभु समझ गया कि मैं भी एक आदमी हूं। वह खुश हआ और तनकर खड़ा हो गया। मैंने उसे और भी प्रसन्न किया और पूछा : "आपके पिताजी घर पर ही हैं न?"

"अब कहां जाएंगे? पूजा कर रहे होंगे।"

"आप यह सब नहीं करते?"

"जब तक पिताजी जीवित हैं, वही करेंगे।"

"तो परमात्मा एक ही के लिए ..."

"सो क्यों? आप भी मेरी ही तरह हैं न? उस दिन आपको भी तो संध्यावंदना से पहले जप करते नहीं देखा।"

"वह क्या नयी बात है? कभी नहीं किया।"

"गजानन पर इतनी भक्ति के बाद भी. . ."

"गजानन पर भक्ति रखकर नहीं, भक्ति रखने वालों पर भक्ति रखकर।"

यह बात उसकी समझ में नहीं आई। मुझे दूसरे काम की चिंता पड़ी थी। मैंने कहा, "आइए, पहले दादी से मिल लें। फिर आपके घर जाएंगे।"

"बिना प्यास बुझाए?" यह कहकर उसने मेरा हाथ थाम लिया और ढलान पर उतरने लगा। यह वही उतार था, जिस पर मैं पिछली बार चला था—'प्रथम चुंबनं दंतभग्नं' वाला मार्ग। इसलिए मैंने पूछ लिया, "कीचड़ तो नहीं होगा?" उसने कहा, "खुद देख लीजिए।" रास्ते की मरम्मत हुई थी। उसे चौड़ा कर दिया गया था। यहां-वहां कुछ पत्थर के टुकड़े रखकर सोपान भी बनाए गए थे। मैं उनके घर पहुंच गया। पुकारकर मैंने शंकर हेग्गड़ेजी को अपने आने का समाचार दिया। उनकी बड़ी बहन से ''अभी आता हूं'' कहकर शंभु को साथ लेकर चल पड़ा। मेरी निगोड़ी आंख घर के पश्चिमी भाग पर गई। दायादी द्वेष-बांस की झुरमुट दिखाई पड़ी। उनके घर का पिछवाड़ा पार करते ही मैंने कहा, "संभया, मैंने जो विश्वास आपको सौंपा था, वह आपने पूरी तरह निभाया। आपका कल्याण होगा। मेरी एक आशा और है, उसे भी पूरा करेंगे?"

"कहिए तो? आप मुझे जेल पहुंचा सकते थे, पर आपके विशाल हृदय ने मुझे क्षमा दी। ऐसी स्थिति में ..."

"आप भी उतना ही विशाल हृदय दिखाएं, तो..."

"कहिए क्या काम है? मेरे वश में होगा तो 'ना' नहीं कहूंगा।"

"आपके बस में न होता, तो मैं कहता ही नहीं। ये बताइए, अब हमारे यशवंतजी के घर का निचला हिस्सा किसके अधिकार में है? आपके परिवार के हक में है या राम हेग्गड़े के?"

"राम हेग्गड़े के हक में तो नहीं ही होगा। अनुभोग से हमारा है। दूसरा कोई उस जगह पर नहीं आया और न ही आ सकेगा। मुझे ठीक-ठीक मालूम नहीं कि उस पर परिवार वालों का कितना हक है। चालीस वर्ष हो चुके हैं, अब जो भी हक होगा, सो किनारे लग गया होगा।"

"बस। तो आप ऐसा कीजिए कि बांसों के उस झुरमुट की सफाई करवा दीजिए और उसे जलाकर भस्म कर दीजिए। फिर वहां एक झोंपड़ी बनवाइये। और किसी के लिए नहीं, पार्वतम्मा के लिए। आपके यहां रहने में उन्हें संकोच होता होगा न? उन्हें यहां बसा देंगे। पंद्रह दिनों में पूरा कर देंगे न यह काम? आपकी फूफी को भी संतोष होगा।"

"अच्छी तरकीब है। यहां रहने में उन्हें कोई कष्ट नहीं होगा। दादी आने के लिए मान जाए तो अच्छा।"

"मनाने की कोशिश मैं करूंगा।"

बातें करते हुए मैदान पार कर गए। उसके बाद राम हेग्गड़ेजी के बागीचे और आंगन

को पार करते हुए पार्वतम्मा के घर के सामने आ खड़े हुए। शंभु ने पास के कुएं से पानी खींचकर अपने पांव धोए और मेरे पांव भी धुलाए। इसके बाद हमने घर में प्रवेश किया। पुकारकर उसने कहा, "दादी, तुम्हारे पोषित पुत्र के दोस्त आए हैं।" मैं उसके पीछे हो लिया। सीधे भीतर पहुंचा। कमरे में घुप्प अंधेरा था। वहीं न एक दिन भोजन किया था मैंने ! पार्वतम्मा ने खुद न खाकर मुझे खिलाया था और अपने पोषित पुत्र के नाम पर भगवान का जप करने लगी थी। उसी स्थान पर बुढ़िया एक फटी चटाई पर लेटी थी। पहली बार जैसा मैंने उन्हें देखा था, उससे आधी रह गई थीं। एकदम कमजोर हो गई थीं। झुककर मैंने प्रणाम किया। "बेटा, इस गरीबन को इतनी दूर से देखने क्यों आए हो? मेरे ही लिए तो आए न उतनी दूर से?" उन्होंने पूछा, "हां अम्मा, इसीलिए आया। आपने बुला लिया मुझे; आपके पालित-पोषित पुत्र ने और इस बेनकय्या ने।"

कुछ समय तक वे मेरी ओर देखती रहीं। मैं मुस्कराया, "बेनकय्या का आशीर्वाद तुम पर बना रहे। उसके मंदिर का जीर्णोद्धार मुझे दिखाने ही आए हो न? मेरा बेटा तुमसे इतना करा रहा है। लेकिन मेरे ललाट में तो... ।" इतना कहकर वह चुप हो गईं।

"अम्मा, बस इतना ही है आपका वेदांत? आपको क्या हो गया है? जब बेनकय्या की इतनी सेवा की है आपने, तो क्या बिना सेवा लिए ही वह तुम्हें बुला लेगा?"

"इतनी कसर भी छोड़ दे, तो अहोभाग्य मेरा!"

"छोड़ेगा। यदि आपका बेनकय्या सचमुच परमात्मा है तो अवश्य करेगा।" यह बात मैंने अत्यंत भक्ति-भाव से कही। किंतु उनको देखने पर धैर्य छूटा जाता था। शंभु धीमी आवाज में राम हेग्गड़े की करतूतों का विवरण खुलकर सुनाता रहा।

पार्वतम्मा ने कहा, "वह भी एक जन्मजात गुण है।"

मैंने कहा, "अम्मा, आपके पोषित पुत्र के धन की बात बतलाकर ही मैं आपके लिए तमाम तकलीफों का कारण बना। कहा था न कि मैं आपकी इच्छा पूरी करूंगा। नहीं तो आप किस कुल की और मैं किस गांव का?"

"तुम भी मेरी कोख से जन्मे पुत्र के ही समान हो। किसी जनम में मैं तुम्हारी मां रही हूंगी या पुत्री रही हूंगी।"

"बहुत बड़ा विश्वास किया है आपने। उसी के बल पर आपसे प्रार्थना कर रहा हूं।" कहकर मैंने अपनी इच्छा उन्हें कह सुनाई। सुनकर शंभु ने कहा, "आप 'ना' न कहें। टालमटोल न करें। 'अस्तु' कहें। इस तरह यहां रहकर अन्न-जल के बिना लड़ने की नौबत नहीं आनी चाहिए।"

उनकी मौन-स्वीकृति पाकर हम दोनों घर की ओर लौटे। जब हम घर की ओर लौट रहे थे, तो बैठक में पान चबाते राम हेग्गड़े ने हमें अनदेखा किया। हम भी आंख बचाकर निकल गए।

जब हम हेग्गड़ेजी के घर पहुंचे, तो शंकर हेग्गड़ेजी जप, पूजा-अनुष्ठान समाप्त करके, माथे पर त्रिपुंड लगाए घर की बैठक में इस प्रकार प्रतीक्षा में बैठे थे, मानो मैं जंगल से भटककर आया दुबला-पतला बाघ हूं। पांच-छह बार 'हो-हो-हो' से उन्होंने हमारा स्वागत किया। अबकी बार मैंने तीन की जगह छह दिन वहां बिताए। शंकर और शंभु हेग्गड़े की मदद से दो ही दिनों में आठ-दस मजदूर मिल गए और उन्होंने अपने औजारों से पुराने घर में उग आए बांसों के झुरमुट का सफाया कर दिया। और कुछ दूरी पर एक ढेर लगा दिया। जगह साफ हो गई। पुराने घर की नींव पर खंभे गाड़े गए और उनके साथ बांस की टट्टियां जोड़ दी गईं। बांस की छत बनाई गई। उस पर घास बिछाई गई। इस तरह दो दिनों में वह झोंपड़ी तैयार हो गई। शंकर हेग्गड़ेजी ने बारिश से पहले ही मिट्टी की ईंटों का एक कमरा बना देने का वचन दिया। पूरे कामों में पचास से अधिक खर्च नहीं हुआ होगा। यह सब चूंकि यशवंतरायजी के ही पैसों से होना था, इसलिए मैंने शंकर हेग्गड़ेजी को ही रकम थमा दी। उन्होंने संकोच के साथ उसे स्वीकार किया। अबकी बार उनके मन में जातियों के बारे में कुछ परिवर्तन-सा दिखाई पड़ता था। पांचवें दिन मैं, शंभू और मूकांबा तीनों पार्वतम्मा के घर गए। परसों का दिन अच्छा रहेगा, यह कहकर हम उन्हें उठाकर उनके पालित पुत्र के घर पर ले आए। बड़ा संतोष मिला। उन्हें वहां लिटा देने के बाद मूकांबा ने कहा, "पारोती, यह वही स्थान है, जहां तुम पांव पसारकर सौ बार यशवंत को अपने साथ सुला चुकी हो।" यह याद दिलाकर उसकी आंखों में खुशी के आंसू उमड़ पड़े। वास्तव में उस घटना को आंखों में साकार होते देखा होगा उसने।

"मेरे बेनकय्या ने इतनी कृपा तो की," पार्वतम्मा ने कहा। यह वही घर था जहां अपनी जवानी बिताई थी उन्होंने, जिस घर से अन्न-जल मिला था उन्हें। अब वह एक झोंपड़ी भी बन सकी तो काफी है। अंतिम काल में अपने ही घर में छांव तो मिली। इसकी याद आने पर न जाने उन्हें कितना संतोष हुआ!

उस दुपहर को यानी छठे दिन एक बार और उन्हें हम बेनकय्या के मंदिर तक ढोकर ले गए। दो-दो खंभों पर पीठ टिकाकर बैठीं। मूकांबिका और पार्वतम्मा को अपार तृप्ति अनुभव हुई। मुझे भी काफी संतोष हुआ, इसलिए कि सारा काम यशवंतजी की इच्छा के अनुसार पूरा हो गया था। उनकी धरोहर का उचित ही उपयोग हुआ, यह जानकर मुझमें धैर्य आया।

आप अनुमान कर रहे होंगे कि मैं तीसरी बार भी बेनकनहल्ली गया हूंगा। मैंने भी यह तय किया। गया भी, उस बेनकय्या की पुनर्प्रतिष्ठा के अवसर पर, पार्वतम्मा की आंखों के सामने गजानन की प्रातःकालीन पूजा देखने के लिए। उस प्रातःकालीन पूजा को अपनी आंखों से देखकर, पार्वतम्मा का आशीर्वाद लेकर जिस दिन मैं गांव लौटा, उस दिन यह शोक समाचार 'पार्वतम्मा को बेनकय्या ने अपने पास बुला लिया' मेरी पहुंच का इंतजार कर रहा था।

आठ

चैत के महीने में मैं बेनकनहल्ली चला गया। पार्वतम्मा के ऊपर वाले घर में ठहराया। फिर कहीं और न जाकर घर लौट आया। पंद्रह दिन बाद चोच्चलमने सीताराम का एक पत्र और आया। यह उनके पहले पत्र से भी अधिक सख्त होगा—यह सोचते हुए खोला और पढ़ा। महाशय ने तनिक ठंडे पड़कर, लगभग शांत होकर लिखा था :

"महोदय,

"मैंने अपने पिछले पत्र में पिताजी की मृत्यु के संबंध में आप पर दोष लगाया था। आपने उसकी ओर कोई ध्यान न दिया। शायद हमारे और पिताजी के बीच में जो मनमुटाव था, उसे आप जानते होंगे। इसीलिए पिताजी की मृत्यु का समाचार तत्काल हमें नहीं दिया होगा। आपने यद्यपि समाचार नहीं भेजा था, परंतु हमें अपने दूर के एक रिश्तेदार से सब कुछ मालूम हो गया था। तभी हमने पिताजी के लिए जो कुछ भी क्रियाकर्म करना था, वह सब कर दिया है। बैंक में जमा रुपयों का समाचार आपने दिया, धन्यवाद। हमारे पिता जी ने आपको नकद कितने रुपये दिए थे? इस बारे में आप चुप हैं। यह अच्छी बात नहीं है। कानून जानने वाला कोई भी आपको बता सकता है कि पिताजी की चल-अचल संपत्ति के हम ही हकदार हैं। इससे अधिक हम कुछ नहीं लिख सकते, क्योंकि अभी हमें सारी बातें नहीं मालूम हैं। जहां तक हो सका, मैं शीघ्र आपके पास आ रहा हूं। मुझे विश्वास है कि तब आप मुझे वे सारे कागजात दिखाएंगे, जो आपके पास हैं। इसके अलावा हमारे पिताजी का और सामान बंबई में कहां है? क्या चीजें हैं? पहले ही बता दें, तो उनको वहां जाकर लाने में सुविधा होगी। मेरे पिताजी आपके जितने निकट थे, उतना ही निकट मैं आपके लिए हूं, यही सोचकर पत्र लिखा है। अन्यथा न लेंगे।

इति नमस्कार।

सीताराम हेग्गड़े।"

मेरी जानकारी के अनुसार यशवंत हेग्गड़े का एक ही पुत्र है। शायद तीन बेटियां हैं। बेटियों का विवाह हो गया है। वे ससुराल में हैं। सीताराम ने अपने पत्र में 'हम' का जो प्रयोग किया है, इस 'हम' में वे बेटियां भी शामिल हैं, ऐसा मुझे नहीं लगा। यह 'हम' बादशाही शान का निशान है। इस शब्द से यही भावना मुझमें उत्पन्न होती है। 'हमारी मां', 'हमारे पिता', कहने में खुला और विशाल मन भी नहीं दिखाई दिया। पत्र का उत्तर देना चाहिए, इसीलिए मैंने भी जरा ताना मारते हुए लिखा, "आप का विश्वासपूर्ण पत्र मिला और सारी

बातें मालूम हुईं। आपसे संबंधित विषयों के बारे में मैंने पहले ही पत्र में लिख दिया है। उनके बंबई के घर का पता भी नीचे दिया था। कहने के लिए उनके कुछ बर्तन, कुर्सियां, मेज आदि हैं। उनको मैं नहीं लाया हूं। सारा सामान इमारत के मालिक के जिम्मे छोड़ आया हूं। आप जब उचित समझें, तब यहां आ सकते हैं। जो कुछ मैं जानता हूं, सो बताने के लिए हमेशा तैयार हूं। उनकी जो चीजें यहां हैं, उन्हें आप देख सकते हैं।

इति, आपका . . ."

यह पत्र लिखकर डाक में डाल दिया और अपना कर्तव्य पूरा कर दिया। इस पत्र के मिलते ही वह आ जाएगा, ऐसा सोचा भी था। परंतु इसके बदले बड़ी संपत्ति पाने की आशा में या शायद मेरे स्वाभाविक विश्वास के कारण वह बंबई जाकर मेरे परिचित जमशेर जी कांट्रैक्टर से मिला। इसका समाचार मुझे जमशेरजी से मिला। ऐसा लगा, वहां जाकर वह अपने स्वभाव के अनुसार अपना रंग दिखा आया।

उनके पत्र में नीचे लिखी बातें थीं :

"आपसे मैंने आपका पता लिया था। एक साल बीत गया, तो भी मैं आपको पत्र नहीं लिख सका। आप शायद मुझे भूल गए होंगे। अब एक घटना घटी, जिसके कारण वह पत्र लिखना पड़ा।

''चार दिन हुए, आपके हवाले से सीताराम नाम के एक सज्जन आए थे। उन्होंने शायद अपना परिचय देते हुए कहा था कि मैं यशवंतजी का पुत्र हूं। जब वह आए थे, तब मैं घर पर नहीं था। मेरी पत्नी ने उन्हें बैठाकर उनसे बातचीत करके बहुत कुछ पता लगा लिया था। उनके रहने का ढंग भी मेरी पत्नी को पसंद नहीं आया। मेरे आने पर ही उनकी मुझसे भेंट हो सकती है, यह कहकर मेरी पत्नी ने उनको वापस भेज दिया। वह चले गए। उनके जाने के थोड़ी देर बाद मैं घर आया। मैंने सोचा था कि आप यशवंतजी के रिश्तेदार हैं। परंतु जब सीताराम दोबारा हमारे घर आए, तब उन्होंने बताया कि आपके और उनके पिताजी के बीच कोई रिश्ता नहीं है। आपने यह कभी नहीं कहा था कि आप उनके संबंधी हैं। परंतु मेरी धारणा यही बन चुकी थी कि आप दोनों निकट संबंधी हैं। यशवंतरायजी ने भी अपने संबंधियों के बारे में मुझसे कुछ नहीं कहा था। तब भी मैं समझा था कि उनके पुत्र उन्हें पैसा भेजते होंगे। अब मुझे मालूम हुआ कि मेरी समझ, मेरी धारणा गलत थी।

"वह अपनी पूरी बातचीत में आप की निंदा करते रहे, जिसे सुनकर मुझे खेद हुआ। मैंने उनसे कहा कि अंतिम घड़ी में जब आपके पिता अस्वस्थ होकर सोए थे, तब उन्होंने मुझे आपको बुलाने को कहा था, तो मैंने आपको बुला लिया था। आप आए थे। आपके आने के पहले यशवंतरायजी चल बसे थे। उसके बाद घर आकर आपने उनकी सभी चीजें अपने कब्जे में कर ली थीं। उनके घर को मालिक-मकान के सिपुर्द किया था। अब वहां

दूसरे लोग किराये पर रहते हैं। उनसे मैंने कहा कि आपके पिताजी की कुछ चीजें यदि मालिक-मकान के पास हों तो आप उनसे ले लें। उसने मुझसे कहा कि मैंने और आपने मिलकर उसके पिता की हजारों रुपये की संपत्ति हड़प ली है। मुझे क्रोध आ गया। मैंने उसे डांटकर कहा, 'जाइए, निकल जाइए।' दूसरे दिन सुना कि वह घर के मालिक के साथ यहां आया था। उन्होंने उसे वे कुर्सियां और सोफा दिखाये, जो यशवंतरायजी के थे और जिसे आप छोड़ गए थे। मकान-मालिक ने कहा कि वह सामान यहां से ले जाए। शायद उसने घर के मालिक के साथ भी झगड़ा किया होगा। मालिक ने भी खूब आड़े हाथों उसकी खबर ली होगी। इसीलिए जब मैं घर पर था, तो तीसरी बार आकर उसने कहा, 'इस सामान की कीमत आप जितनी समझें दे दें। और उसको रख लीजिए।' मैंने 'यही चीजें हैं न' कहकर सौ रुपये में सब सामान खरीद लिया। उससे रसीद भी लिखवा ली। वह संतुष्ट नहीं हुआ होगा। मुझे उन चीजों की आवश्यकता भी नहीं थी। परंतु मित्र की वस्तुएं हैं, यह सोचकर खरीद लीं।

''उसके बाद उसने अपने पिताजी की कहानी सुनाई। उनके पास लाखों रुपयों की संपत्ति थी। वह अपनी पत्नी और पुत्रों को छोड़कर बंबई आ गए थे। यहां पैसा पानी की तरह बहाया। अपनी पत्नी को, अपने बच्चों को हजारों तरह के दुख उस बड़े आदमी ने दिए, वगैरह। पुत्र को जो कुछ नहीं कहना चाहिए था, वह सब उसने कह दिया। मैंने कानों पर हाथ रखकर वह सब सुना। उसने जो कुछ कहा, यदि वह सच है तो परिवार के बारे में यशवंतरायजी ने मौन धारण कर लिया था। शायद उसका कारण परिवारवालों से एक प्रकार की दुश्मनी ही थी। परंतु भगवान ही जाने, इस लड़के के आरोप कहां तक सच हैं! मैंने अपनी आंखों से देखा है कि उन्होंने 'दादा' के साथ किस प्रकार का बर्ताव किया था और किस तरह दादा ने उन्हें जाल में फंसा लिया था। और तब भी उसके साथ यशवंतरायजी का व्यवहार कैसा था। मैं तभी समझ गया था कि यशवंतरायजी का स्वभाव उनका अहित करने वालों के साथ भी अच्छा रहता था। इस सीताराम ने मुझे एक और समाचार दिया कि उसके पिताजी बहुत क्रोधी थे। ऐसा स्वभाव मैंने उनमें कभी नहीं पाया। उसका ज्यादा आरोप आप पर था। उसके अनुसार, यशवंतरायजी ने आपको पचास-पचहत्तर हजार रुपये दिए थे। वह आपके पास उस धन को अपने परिवार के सदस्यों को देने के लिए छोड़ गए थे, जिसे आप हड़प कर गए हैं, खा गए हैं। और उसने यह भी कह दिया कि उसके पिताजी मृत्यु का समाचार आपने उसे नहीं दिया।

"संक्षेप में, वह यहां आकर हमारे एक अच्छे मित्र के बारे में झूठे और सरासर गलत संदेह उभारकर चला गया।"

सुनी-सुनाई बातों पर विश्वास करने वाले स्वार्थी लोगों का स्वभाव ही ऐसा होता है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। उसमें भी पैसे की बात के कारण, कोई भी क्यों न

हो, बदनाम हो जाता है। मैं अकेला इससे कैसे छुटकारा पा सकता हूं? यह सीताराम इतनी सारी गड़बड़ी करने के पहले मेरे पास आकर जो कुछ कहना चाहता था या पूछना चाहता था, पूछ लेता तो अच्छा था। और सब कुछ जानकर कोई धारणा बनाता, तो अच्छी बात होती। परंतु दुनिया को नीति सिखाने वाला मैं कौन होता हूं? मुझे लगा कि यशवंतरायजी ने जो धन मेरे पास छोड़ा है, उसे एक बार जिन-जिन लोगों को देना है, उन्हें देकर इस झंझट से मुक्ति पाऊं तो सुख से सो सकता हूं।

पत्र के पहुंचने के पंद्रह दिन बाद ही सीताराम हेग्गड़े हमारे यहां आया। उसका चेहरा देखते ही कोई भी जान सकता था कि वह यशवंतरायजी का पुत्र है। वह न अधिक लंबा था और न छोटा। चुस्त और फुर्तीला। उत्तर कन्नड़ (कारबार) जिले के शौकीन ग्रामीण संस्कार उसके चेहरे पर झलकते थे। उसने अच्छी तरह से आधुनिक ढंग के बाल कटवा लिए थे। सिर पर काली टोपी थी। कानों में पन्ने और मूंगे के कुंडल और बाली। सफेद धोती, सफेद कुर्ता। कोट के सारे बटन खुले हुए और कंधे पर जरी की सूती ओढ़नी तह की हुई लटक रही थी। एक फर्लांग से ही आने की सूचना देने वाले चरमर-चरमर आवाज करते जूते पांव में थे। मुंह पर ऐंठी हुई मूंछें थीं। उसके चलने-फिरने और आने-जाने में भी ठाठ-बाट था। दूर से उसके आने का ठाठ देखकर मेरे मुंह से अचानक निकल पड़ा, "आओ, शेर के बच्चे आओ !" काफी समय से जिसकी प्रतीक्षा में था, वह यही आदमी है—यह सोचकर उसके नमस्कार करने से पहले ही मैंने उसे नमस्कार कर लिया और पूछा, "कुमटा की तरफ के हैं?"

"हां।"

"चोच्चलमने सीताराम हेग्गड़ेजी हैं न?"

"हां।"

"आइए, बैठिए। सोचा था कि आप आएंगे। पहले हाथ-मुंह धो लीजिए। चाय बनवाऊं या कॉफी चलेगी?"

"उसके लिए फुर्सत नहीं है। आपके यहां वाला काम पूरा करके मुझे आज ही मंगलूर जाना है। कुमटा नजदीक नहीं है। आना-जाना बहुत आसान नहीं है।"

"जी हां, बस का रास्ता। बीच में आठ-दस नदियां पड़ती हैं। मैं भी उस ओर हो आया हूं। आइए, हाथ-मुंह धो लीजिए। खा-पीकर बातें होंगी।"

"इतना समय मेरे पास नहीं है। बिलकुल समय नहीं है, कह दिया न।"

उसकी बातों से, कदम-कदम पर उतावलापन, घमंड ही दिखाई दिया। "तो मुझे भी काम है।" कहकर मैं चुपचाप उठा और बैठक के एक कोने में बैठ गया। दूसरे ही क्षण सोचा, यह तो ठीक नहीं है। मैं वहां से उठकर अपने कमरे में गया और एक पुस्तक पढ़ने लगा। सौभाग्य से, मेरे एक अध्यापक मित्र आ गए। तब मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। आधा

घंटे तक इच्छित-अनिच्छित बातें करके समय बिताया। मेरे अध्यापक मित्र ने पूछा, "वह कौन हैं बाहर? सुंदर रावण की तरह दिखाई पड़ते हैं न?...उनके आने का कारण आपको मालूम है या नहीं? पान-सुपारी की थैली खोलकर तंबाकू खाकर होठों पर उंगलियां रखकर पिचकारी मार रहे हैं !" उनकी बातें सुनकर मेरे मन में भी लहर उठी और मैंने लय-ताल के साथ तान मारी, "न मारो पिचकारी !" तब अध्यापक ने कहा, "उन्हें सुनाई पड़ेगा, महाशय !"

"संगीत यार लोगों को सुनाना चाहिए।" मैंने कहा।

तब बाहर से ही सीताराम हेग्गड़े ने पुकारकर कहा, "महोदय, कोई पत्र दिखानेवाले थे न? दिखाएंगे?" मैंने भीतर से ही जवाब दिया, "यदि आपका क्रोध उतर गया हो तो यहां आइए, दिखाऊंगा।" मुझे वह नया दृश्य देखने के लिए एक गवाह की भी जरूरत थी। यह भय भी था कि उनके हाथ में पत्र दूं और उसे वे अपनी मुट्ठी ही में दाब लें या फाड़कर फेंक दें, तो कल मुझे ही परेशानी होगी न? इतने में हेग्गड़ेजी कमरे में आ गए। मैंने उन्हें बैठने को कहा। वह बैठ गए। रसोइया उसी समय हम तीनों के लिए कॉफी और नाश्ता ले आया। मैंने कहा, "लीजिए !"

उन्होंने कहा, "कुल्ला करने के लिए थोड़ा पानी चाहिए।" घर के लड़के ने पानी लाकर दिया। शायद मेरे यहां पानी न पीने की प्रतिज्ञा करके आए हुए भले आदमी ने केवल मुंह ही धोया। धीरे-धीरे जलपान समाप्त हुआ। मैंने कोई दूसरी बात न करके सबसे पहले कहा, "लीजिए, देखिए यह पत्र, जो बंबई से आया है।" जमशेदजी कांट्रैक्टर का पत्र उन्हें दिया। उसे पढ़कर उन्होंने लौटा दिया।

फिर मैंने कहा, "यह देखिए, आपके पिताजी जब बीमार थे, तब उन्होंने तार मुझे दिया था।"

उन्होंने उसे भी पढ़कर देखा।

"यह देखिए, मरने के एक सप्ताह पूर्व मेरे नाम आया आप के पिताजी का पत्र।" कहकर मैंने पत्र उन्हें दिखाया।

उनके पढ़ लेने के बाद पत्र मैंने वापस ले लिया। फिर कहा, "यह है आपके पिताजी का पत्र, जो पंद्रह हजार रुपये के ड्राफ्ट के साथ भेजा गया था।" वह पत्र भी दिखाया।

उसे भी उन्होंने पढ़कर देखा। मन में न जाने क्या सोचकर फिर कहा, "इसमें लिखा है न कि मैं खुद आऊंगा। अवश्य आऊंगा। इसका यह अर्थ हुआ कि यह रकम उन्हें वापस मिलनी चाहिए। अब यानी उनकी मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारी हम हैं...हमें मिलनी चाहिए।"

"पत्र के शुरू की पंक्तियों में साफ-साफ यह भी तो स्पष्ट लिखा है कि यदि मैं न रहूं तो धन का किस प्रकार उपयोग किया जाए...। मुझे उनके आदेश का पालन करना

चाहिए कि नहीं?" कहते हुए मैं धीरे-धीरे उनके पास गया और पत्र उनसे ले लिया। मुझे उन पर काफी शक था।

"वह नहीं हैं, तो क्या हम भी नहीं हैं?"

"आप हैं। यह उन्होंने नहीं समझ लिया था कि आप भी नहीं हैं। इसीलिए तो यह कठिनाई है।"

मेरा उनसे पत्र ले लेना और यह कहना उन्हें इतना बुरा लगा कि वह उत्तेजित हो गए। उन्होंने कहा, "पुत्रों की अपेक्षा क्या आप उनकी संपत्ति के अधिक हक़दार हैं? सब कुछ छोड़कर देहात में पड़ी एड़ियां रगड़ती उस बुढ़िया के लिए भी कुछ नहीं है?"

मुझे भी गुस्सा आया। मैंने कहा, "ये सब बातें आप अपने पिताजी के सामने निपटा लेते। अब मुझसे कहने का क्या प्रयोजन? यशवंतरायजी की वसीयत पूरा करनेवाला मैं हूं। इसमें कोई भी रुकावट नहीं बन सकता।"

"इससे मालूम होता है कि पार्वतम्मा के नाम पर मंदिर बनवाने का नाटक रचकर बाकी रुपये हड़पने और हमारे पिताजी के परिवार को कुछ न देने का आपका विचार पक्का है। हमारे हेग्गड़ेजी ने जो कुछ कहा, वह झूठ नहीं है।"

"आपके गुरुजी हैं, यह ठीक है। अब देखिए, इन दो संदूकों में उनकी किताबें हैं। एक में उनके खींचे कुछ चित्र हैं। उन्हें देखना चाहते हैं? इतनी फुर्सत है? यह सब उन्होंने मुझे नहीं दिया था। मैं ही लाया हूं। अगर आप चाहें, तो सब ले जा सकते हैं।"

"इन दोनों बक्सों को नदी में बहा दीजिए। मेरे पिताजी ने जो पत्र आपको लिखा है, वह मुझे दे दीजिए।"

"नदी . . . ! यहां से आठ मील की दूरी पर कुमारधारा नदी है। समीप कोई नदी नहीं है। उन्होंने जो पत्र मुझे लिखा है, वह आपको नहीं दिया जा सकता।"

कुछ मिनट के लिए उनका मुंह लाल पड़ गया, फिर काला। खूब छटपटाए। इधर-उधर देखा। मेरे पास बैठे मास्टरजी से उन्होंने कहा, "देखिए महोदय, मैंने पुराणों में भी नहीं सुना है कि इस तरह किसी पिता ने अपने पुत्र से इतनी दुश्मनी की हो।" अपने पिता की इस प्रकार निंदा करते देख मेरी सहनशीलता सीमा से बाहर हो गई।

मैंने कहा, "पुराणों में इस प्रकार पिता की निंदा करने वाले पुत्रों की कहानी भी नहीं आई है। वैसे पुराणों की चर्चा करने के लिए यह ठीक स्थान नहीं है।" इस बात का सिर-पैर बिना समझे, अवाक बैठे मेरे अध्यापक मित्र को वह संक्षेप में अपनी कथा सुनाते रहे।

"तो क्या अब मैं जाऊं?" उन्होंने पूछा।

मैंने कहा, "घर आए अतिथि से मैं ऐसा कैसे कह सकता हूं? और वह भी अपने मित्र के पुत्र से? एक दिन ठहरकर मन को शांत करके जाएं, तो आना भी अच्छा लगे।"

आपको यह जानकर काफी आश्चर्य होगा कि उस दिन सीताराम हेग्गड़े मेरे अतिथि

बनकर रहे। मैं तो अत्यंत सावधान रहकर उनके पिताजी के बारे में अधिक नहीं बोला। परंतु वही उनके बारे में कुछ सुनाने का आग्रह करते रहे। तब मैंने यशवंतरायजी के प्रति मेरे मन में जो उच्च भाव थे, उन्हें बता दिए। सीताराम हेग्गड़े को खूब विचार करने के बाद केवल एक ही उपाय सूझा। उन्होंने मेरी खूब प्रशंसा की। मेरे तर्कों तथा सहनशीलता की प्रशंसा में उन्होंने पुल बांध दिए। अपने सारे कष्टों की कहानी सुनाई। मां के दुख का वर्णन किया। अपने कर्ज की बात भी कही। कुल मिलाकर कई तरह से मेरी सहानुभूति पाने का प्रयत्न किया। यक्षगान में जैसे भागवत राक्षस वेशधारियों के सामने बैठकर 'हाय', 'ऐसा', 'अहा' कहते रहते हैं, वैसे ही मैंने उनकी बात सुनकर संक्षिप्त शब्दों में उत्तर दिया। दूसरे दिन उनके दिल को अधिक दुखाना उचित न समझकर उनके पिताजी के पत्र की एक नकल कर अपने हस्ताक्षर करके उनके हवाले की और कहा कि उसकी मूल प्रति मेरे पास रहेगी।

उनके हाव-भाव ने मुझमें उनके ऊपर विश्वास नहीं जमने दिया। उनके कपड़ों ने, उनके ठाठ-बाट ने, उनकी बातों ने, उनके घमंड ने मुझे विश्वास नहीं दिलाया कि वह कर्जदार हैं या कष्ट में हैं। इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि उसकी बहनों में से भी कोई कष्ट में नहीं होगी। इसीलिए मैंने उनसे कहा, "महाशय, अच्छा हुआ, आप आए। आपके पिताजी ने जो धन मुझे दिया है, उसे मैं बर्बाद नहीं कर दूंगा। बेनकय्या के मंदिर के लिए कुछ खर्च किया है। उनकी वसीयत के अनुसार चार लोगों को छह रुपए प्रतिमास जाते हैं। एक दिन मैं आपके गांव भी आ जाऊंगा। उनकी संतानों में से किसी को कष्ट है, तो जो उचित समझूंगा दे दूंगा। मुझसे जो कुछ भी हो सकेगा, करूंगा।" इन बातों के कारण वह कम-से-कम मेरे सामने तो शांत होकर लौट गए।

अपने गांव लौटने के बाद कभी विरोध पत्र, कभी विनम्र पत्र, कभी प्रशंसा पत्र, कभी निंदा पत्र—इसी क्रम में बारी-बारी मुझे ढेरों पत्र लिखने लगे। उनके पत्रों का उत्तर देने का कष्ट मैंने नहीं किया। उनकी जल्दबाजी और उत्सुकता को मैं जानता ही था। अतः मुझे जल्दबाजी करने की आवश्यकता नहीं थी। मैं चुप रहा। मैंने सोचा था कि गजानन के मंदिर का समारोह देखकर लौटते समय कुमटा होकर आऊंगा, परंतु फिर मुझे फुर्सत नहीं मिली। मुझे वहां आने के लिए राम हेग्गड़ेजी ने लिखा था। हमारे देहाती लोग 'सीताराम' का उच्चारण 'शीताराम' करते हैं, परंतु यह व्यक्ति न 'शीत' है और न 'राम'।

नवरात्रि के समय उन्होंने कुमटा के एक वकील से मुझे एक नोटिस दिलाया : 'आपको इसके द्वारा सूचित किया जाता है ... ।' उस नोटिस के अनुसार मुझे अपने पास से उन्हें पचास हजार रुपया और उस पर आठ प्रतिशत का ब्याज देना होगा। इसके साथ रजिस्टर्ड नोटिस का खर्च चार आने, वकील का मेहनताना एक रुपया और देना पड़ेगा। विस्तार में यह सूचना मुझे भेजी गई थी। यदि न दूं, तो? आप जानते ही हैं न, नतीजा

ठीक न निकलेगा!

इस नोटिस ने विनोद की सामग्री जुटाई और इस संबंध में मुझे एक वकील मित्र से सलाह लेनी पड़ी। वकील मित्र नोटिस देखकर खूब हंसे। बोले, "इसका क्या जवाब देना! उनके पत्र में तो सारे अधिकार आपको प्राप्त हैं। इसका मुकदमा यहीं गांव में चलेगा। वह आकर इस गांव की अदालत में दावा करे। ओहो, यहां नहीं होगा। पंद्रह हजार रुपए का मामला, मंगलौर में होगा। उसे तो इस दावे से कुछ लाभ नहीं होगा। पर हमारे गांव के एक वकील की होनेवाली आमदनी में टांग मत अड़ाइए।" यह सलाह थी वकील मित्र की।

मैंने कहा, "आप वकील लोग 'हप्पुकक' होते हैं।"

"मतलब?"

तुकु भाषा-प्रदेश के मित्र को कन्नड के इस 'हप्पुकक' शब्द का अर्थ समझ में नहीं आया। मैंने कहा, "हप्पुकक माने लाश खाने वाला गिद्ध। जिंदा आदमी का भी गोश्त आप लोग नोचकर खा लेते हैं और मर जाने पर सड़ा मांस तक खा जाते हैं !" हम दोनों हंसने लगे। फिर मैं घर लौट आया।

इसके बाद 'इसके द्वारा सूचित किया जाता है,' जैसे नोटिस द्वारा सूचित करने वाले सीताराम हेग्गड़े ने तीन महीने बीत जाने पर भी कुछ नहीं किया। ऐसा लगा कि उस नोटिस के साथ ही वह चुप हो गए। उनके वकील ने उपदेश दिया होगा कि निशाना बैठ गया, तो चार फल मिल जाएंगे, नहीं तो एक पत्थर ही जाएगा ! पत्थर का जाना सच निकला; अविद्यमान फल का न गिरना भी उतना ही सच निकला !

मैंने उस ग्रीष्म में कुमटा का प्रवास करना तय किया था। वहां तो जाना जरूरी ही था। वहां जाने पर हेग्गड़ेजी से मिलना चाहिए, संभव हो तो उनकी मां तथा बहनों को देख आना चाहिए। अपने मित्र के प्रीति-पात्र धारेश्वर शीन और होन्नगछे मंजय्या को भी देख आना चाहिए। मुझे यह आशा नहीं थी कि यशवंतरायजी के संतप्त लोगों से उनके बारे में अच्छी बातें सुनूंगा। सीताराम हेग्गड़े के आधे दिन के परिचय ने और उसके पत्रों ने ही मुझे आश्चर्य में डाल दिया था। मेरे मित्र ने भी अपनी स्मृति में मल्लिका-आम्रवृक्ष की उपमा देकर अपने संसारिक-कौटुंबिक जीवन के बारे में लिखा था। मल्लिका लतिका की असहाय शून्यता वह दिखाती थी। संतानों के बारे में न जाने क्या-क्या उन्हें लिखना था ! पुत्र के बारे में एक भी बात उन्होंने अपनी डायरी में नहीं लिखी है। सीताराम के चले जाने के बाद मैंने इसी उद्देश्य से फिर ढूंढ़कर डायरी देखी। अपनी लड़कियों को वह क्यों भूल गए? क्या वे विस्मृत हो गईं? सचमुच कोई पिता उनके बारे में अरुचि नहीं रखेगा। लगता है कि उन्होंने भी अपने पिता को कोई पत्र नहीं लिखा। मुझे ऐसा लगा कि अपनी पत्नी के प्रति मेरे मित्र के मन में जो असीम घृणा थी, उसका फल उनकी लड़कियों को

भोगना पड़ेगा। मैं भी यह महसूस करता था कि मेरे मित्र को अपनी संतान के प्रति इतना घृणा-भाव नहीं रखना चाहिए था। पर इतनी घृणा के भाव उनके अंदर क्यों उत्पन्न हुए? इसके भी प्रबल कारण होंगे। 'अपना पूर्व संबंध-भूल ही जाना चाहिए' की हठधर्मी भरा आग्रह यदि उनमें प्रबल नहीं होता, तो यह सारा-कुछ उनसे हो ही नहीं सकता था। वह चित्र बनाते थे न? वहां भी उनकी हठधर्मिता दिखाई देती है। एक ही बात को पंद्रह बार लिखने के प्रयत्न वहां दिखाई देते हैं। जैसा उनका मन सोचता था, उसके अनुरूप न तो उनके हाथ की कूचियां चलती थीं और न पेंसिल की लकीरें खिंचती थीं। ऐसी हालत में केवल हठपूर्वक चित्र पूरा करना पड़ता था।

एक दिन मैंने उनकी डायरी खोलकर देखी, तो उसमें लिखी एक उपमा ने मेरा ध्यान आकृष्ट कर लिया, "जिस प्रकार दूध दूध से मिल जाता है, उसी प्रकार वह पानी से भी मिल जाता है। दूध से दूध मिल जाए तो सुंदर, पर यदि पानी उसमें मिल जाए तो दूध दुर्बल हो जाता है। उसकी मिठास कम हो जाती है। बहुत ज्यादा पानी मिल जाए, तो दूध का रंग मात्र बच रहता है।

"मट्ठे और पानी के बीच इस प्रकार का मेल नहीं है। मट्ठा खट्टा होने वाला पदार्थ है। खट्टे मट्ठे से खट्टा मट्ठा मिल जाए, तो वह भी एक प्रकार से सुंदर। उस मट्ठे में पानी मिला दें तो वह मिला हुआ-सा दिखाई पड़ता है। बस, केवल दिखाई पड़ता है। क्या वह घुल-मिल सकता है? अंत में वह फटे दूध के समान हो जाता है—मट्ठा अलग और पानी अलग।

"चाहे दूध हो, चाहे पानी—दोनों हांडी में रखे जा सकते हैं। दूध के बदले मट्ठा डाला जाए तो? खट्टे मट्ठे को ही डाल दें तो? तांबे के बर्तन में डाल दें, तो क्या वह वैसे ही रह जाएगा? उससे जहर पैदा होता है, ताम्रकिट्ट उत्पन्न होता है। गरीबी के बर्तन में पड़े खट्टे मट्ठे का स्वभाव दुनिया नहीं समझ पाती। कांसे के बर्तन में रखने से लोगों को मालूम नहीं होता वह क्या है। इसके बदले में तांबे का बर्तन मट्ठे को अपना गुण देता है, जो विष पैदा करता है।"

दुनिया का कौन-सा रूप देखकर मेरे मित्र ने यह राय जाहिर की? अपने आसपास के दस-बारह परिवारों को उन्होंने देखा होगा। ऐसे परिवारों से अपने परिवार की तुलना की होगी। गरीब के परिवार की मटके से और अमीर के परिवार की कांसे के बर्तन से तुलना की होगी। विविध दांपत्य को सोचकर, पानी को मट्ठा जैसा चित्रित किया। उनके मन में उनका दांपत्य दूध-दूध का नहीं रहा, दूध-पानी का भी नहीं था; तांबे के बर्तन में रखे मट्ठे का रहा होगा। वह कल्मष ताम्रकिट्ट के सिवाए और क्या उत्पन्न करेगा ! इस प्रकार उन्होंने अपने उद्‌गार लिखे होंगे। दो समान वस्तुओं में मेल होता है, पर आपको धारण करने वाला पात्र तांबे का हो तो परिवार के लिए या समाज के लिए विष बन जाता

है। पानी दूध के साथ मिलता है, तो दूध का गुण घटता है पर विष नहीं उत्पन्न करता। कितने पति-पत्नी दूध-दूध के समान होंगे। उनमें से एक पानी हो तो भी परवाह नहीं—दांपत्य बच सकता है। किंतु मेरे मित्र के जीवन में जो दिखाई पड़ा, वह न घुल-मिल सकने वाला, लेकिन घुला-मिला-सा दिखने वाला पानी और मट्ठा है। सो भी तांबे के बर्तन में पड़ा हुआ। इसीलिए उनमें यह भाव उत्पन्न हुआ होगा कि ऐसा जीवन दुनिया के लिए, समाज के लिए विष है। ऐसा दांपत्य असह्य होने के कारण ही वह बंबई में आकर बस गए।

सीताराम हेग्गड़े के शील का निरीक्षण करने पर मुझे लगा था कि मेरे मित्र के विषम दांपत्य में जहर की सृष्टि हो गई थी। किंतु ऐसा नहीं लगा कि सभी संतानें और विशेषकर लड़कियां भी ऐसी होंगी। उन्हें देखना चाहिए, देखकर जानना चाहिए, यह जिद उत्पन्न होने के कारण ही किसी से कहे बिना मैं एक दिन कुमटा के लिए निकल पड़ा।

कुमटा—चीनी नाटकों में जैसा कहा जाता है, हमारे गांव से 'दूर यानी बहुत-बहुत दूर, समीप यानी यहीं है। उत्तर कन्नड़ और दक्षिण कन्नड़ जिले यदि जुड़े हुए प्रदेश हैं, तब तो मेरे गांव से कुमटा डेढ़ सौ मील दूर भी नहीं है। 'बस' कहने लायक बसों की यात्रा। चढ़ना-उतरना—यही काम। नदी-नाले तक आना, नाव से पार करना, अगली बस की प्रतीक्षा में बैठ सफर करना—ऐसी यात्रा से मैं थककर चूर हो गया था। सीताराम हेग्गड़े जब मेरे घर आए थे, तब जैसा उनका चेहरा तमतमाया था, वैसा ही मेरा भी चेहरा उस समय होगा, जब गरमी-उमस में हेन्नावर नदी पार करके मैं आखिरी बस पर चढ़ रहा था। अब क्या, बस बारह मील दूर !—इस धीरज के साथ रथारोहण किया। वह अनादिकाल का, सनातन समय का हमारा वह रथ। गत महासमर में कई रणक्षेत्र देखकर आए घायल वीर सिपाही की तरह वह था। उसमें लोग भी खचाखच भरे हुए थे। उसी में बैठकर आगे बढ़े। कर्की गांव आया, हल्दीपुर पार किया। धारेश्वर आ रहा है। उसके आगे ही कुमटा है। धारेश्वर में एकाएक जाने क्यों बस रुक गई। धारेश्वर पुराने काल एक पुण्यक्षेत्र है। वहां से बस आगे बढ़ी ही नहीं। पता चला कि उसका कोई पुर्जा टूट गया है। एक ही साथ तीन-तीन बीमारियों के कारण हमारा वाहन रुक गया। हम नीचे उतर गए। अब दो घंटे तक कोई बस नहीं। पूछा गया, "ड्राइवर साहब, रिपेयरिंग में कितना वक्त लगेगा?" तो पता चला कि वहां से कुमटा या सिरसी खबर पहुंचानी होगी, तब बस ठीक हो पाएगी। इस दिन के लिए यात्रा की चिंता छोड़ देनी चाहिए—मैंने सोचा।

दिन के दो बज रहे थे। धूप, बेहद कड़ी धूप। मेरे एक-दो मित्र जब चल पड़े, तो मुझे भी लगा कि चले जाना ही बेहतर है। मुझे पता था कि यह 'धारेश्वर' है। मेरे रिकार्ड में अंकित शीन यहां का है। इसलिए नहीं रुका। एक दुकान में जाकर बैठ गया। चिउड़ा और चाय लेकर खाया-पिया। दुकान के मालिक वृद्ध दिखाई पड़े, इसलिए कुतूहलवश पूछा, "स्वाना, यहां पहले 'धारेश्वर शीन' नामक कोई व्यक्ति रहता था?"

उन्होंने कहा, "अब भी हैं। धारेश्वर में दस लोग 'शीन' नाम वाले हैं। बेट्टिनमनेय शीन,

बैलिनमनेय शीन, केसरुगछे शीन... ।" इस प्रकार शीनों का जाप ही उन्होंने शुरू कर दिया।

अभी इतने शीन हैं, तो पहले कितने शीन हुए होंगे !—सोचकर मैं चुप हो गया। अपनी गठरी बगल में दबाकर, उसी धूप में लाल मिट्टी को कुचलते हुए कुमटा के लिए रवाना हुआ।

नौ

दो दिनों का प्रवास। धूल और धूल से भरे रास्ते को पार करके कुमटा पहुंचने में मुझे नानी याद आ गई। कुमटा पहुंचने पर सबसे पहले किसका दर्शन करूंगा—इस सिलसिले में कुछ भी नहीं सोचा था। कुमटा के समीप पहुंचने पर अपने एक-एक मित्र का स्मरण शुरू किया, तमाम पुरानी स्मृतियां—अमुक हैं या नहीं हैं? गांव में हैं या गांव से बाहर? आदि-आदि। तय किया कि सीताराम हेग्गड़े के घर सबसे पहले न जाऊं। पहले ही कदम पर गलती नहीं करनी चाहिए। उसी गांव के एक और सीताराम की याद आई—वह हेग्गड़े नहीं हैं। गांव में प्रवेश करते ही पहले उन्हीं का मकान मिलता है। पुरानी स्मृतियों से जुड़े होने के नाते उन्हीं के यहां गया। इतने दिनों बाद देखने के उत्साह से वहां जाकर बैठ गया और आवाज दी, "घर के यजमानजी हैं?" मेरी आवाज सुनकर वह स्वयं बाहर आए ! "कारंतजी, आइए . . . आइए . . . ." कहते हुए आदरपूर्वक उन्होंने सत्कार किया। प्यास बुझाने के लिए पानी आया। उन्होंने यह नहीं पूछा कि 'इस गांव में क्यों आए?' बल्कि बदले में सवाल किया, "दो दिन रहेंगे न?"

"दो दिन नहीं, चार दिन भी रुक सकता हूं," मैंने कहा।

"बहुत अच्छा।" उन्होंने जवाब दिया।

वह जानते हैं कि मैं घुमक्कड़ हूं। कुछ काम होगा, वरना ऐसे थोड़े ही आता—उन्होंने मन में सोचा होगा। पर मुझसे 'क्यों आए? क्या काम है,' आदि अनावश्यक बातें नहीं पूछीं। मैंने भी सीताराम के पुराण के बारे में पूछने की जरूरत नहीं समझी। मैं कोई पुलिस-तहकीकात में तो आया नहीं था। इस गांव में मेरे और भी दो-चार मित्र हैं। एक-एक के घर जाकर, कुशलता पूछकर, कुतूहल होने पर भी न होने का नाटक करके अपने-आप बाहर आने वाली बातों से जानकारी लेनी थी।

जिस दिन यहां पहुंचा, उस दिन सभावंत के घर में ही रात बिताई। मेरे लिए स्नान तथा निद्रा ही आवश्यक थे। इसके अलावा अच्छा खाना-पीना, आदर-सत्कार मिल जाने पर मैं भी भूपति रंगनाथ की भांति रात-भर खूब सोया। सुबह नाश्ता करके दूसरे मित्र के घर पहुंचा। जिस रास्ते से गया, उसी रास्ते में चोच्चलमने वालों का बखार (सुपारी-मंडी)

था। वह एक पिछड़ेवाला घर था। सामने बरामदा, दरवाजा, आँगन और उसके बाद बखार था। बाहर बोर्ड था, इसलिए बाज जैसी निगाह से उसे देखकर अपने मित्र मुर्डेश्वर वकील के घर पहुंचा। वकालत उनकी कम ही चलती थी। वह अर्द्ध-निवृत्त वकील थे। अपने आने का समाचार मात्र उनको देना था। वह मेरे घनिष्ठ परिचित थे। इसके अलावा वह स्थानीय विशिष्ट व्यक्ति थे। मैंने सोचा कि स्वजाति वालों से उल्टी-सीधी टिप्पणी मिलेगी, जबकि जो मेरे संबंधी नहीं हैं, उनसे अपने मित्र के बारे में पूर्वग्रह-रहित समाचार मिलेगा और इसीलिए वकील साहब को अपने आने का समाचार देकर और उनसे यह कहकर कि "शाम को आऊंगा, अभी आपको कोर्ट जाना है न?" मैं चला आया।

फिर तीन मील की दूरी पर बसे 'होन्न्गाछे' की ओर मैंने कदम बढ़ाया। उस गांव को मैंने केवल रात में देखा था। देखा-अनदेखा रास्ता पकड़कर, दोनों ओर खाली पड़े खेतों और बस्तियों को देखता हुआ आगे बढ़ा। दो मील चलने के बाद लगभग चौदह वर्ष का एक लड़का मिला, जो बस्ता लटकाए स्कूल जा रहा था। इधर-उधर भटकने की बजाए कुछ जानकारी पाने के इरादे से उस बालक को रोककर मैंने पूछा, "होन्नगछे मंजय्या के घर जाने का रास्ता कौन-सा है?"

"होन्नगछे आ गया। यहां से आगे वही.... । मंजय्या का घर पूछा न? हमारा ही घर? मंजय्या नाम वाले एक आदमी और हैं।"

उस लड़के ने उनके घर का रास्ता दिखाया—गोलिपेड़ या मंदिर, दाएं-बाएं ताड़वृक्ष, गूलर का पेड़ आदि निशान बताए। मैं तो उतना शस्त्र-शास्त्र नहीं जानता। फिर गांव में न जाने कितने गोलिवृक्ष, ताड़वृक्ष होंगे। इसलिए मैंने उससे पूछा, "वे कौन-से हैं, दिखाओगे? स्कूल का समय हो गया है क्या? देर हो रही हो तो रहने दो।"

"दिखाऊंगा।" कहकर लड़का लंबे-लंबे डग भरने लगा। मैं उसके पीछे-पीछे चला। रास्ता काटने के लिए मैंने उससे बातचीत शुरू की।

"तुम्हारा घर यहां से कितनी दूर है?"

"एक-दो फर्लांग।"

"तुम्हारे घर में कौन-कौन लोग हैं?"

"माता-पिता, दो छोटे भाई, बस !"

"छोटे भाई स्कूल नहीं जाते?"

"जाते हैं, छोटे स्कूल को।"

"और तुम?"

"गिब् हाई स्कूल।"

"दोपहर के भोजन के लिए काफी दूर आना पड़ता होगा।"

"दूर की वजह से नहीं आता।"

"स्कूल में ही सारा समय बिताते हो? और भोजन?"

"नहीं।" सुनकर और उसका दुर्बल शरीर देखकर बहुत बुरा लगा।

"मार्केट में तुम्हारे कोई रिश्तेदार या दोस्त-मित्र नहीं रहते, जहां एक वक्त भोजन कर सको?"

"हैं, पर मैं उनके घर नहीं जाता।"

"वे गरीब हैं?"

"नहीं, उनके पास इतना है कि खूब खाकर डकार ले सकें। मेरे मामा का ही घर है वह। बखार और घर दोनों बाजार में हैं, परंतु हमारे और उनके बीच का संबंध बिलकुल मामूली-सा है।"

"क्या नाम है उनका।"

"चोच्चलमने वाले।"

"तुम उनके क्या लगते हो?"

"मैं? उनकी बहन का लड़का हूं।"

"तुम्हारे पिताजी का नाम मंजय्या है न?"

"हां...। आपका गांव? आपको देखने से लगता है कि आप किसी दूसरे गांव के हैं।"

"हां, दूर के गांव का। बंगलौर की तरफ का हूं।"

"आप वहां से आ रहे हैं?" कहते-कहते उसने दिखाया, "वह देखिए, वह ताड़वृक्ष है। उसके सामनेवाला घर ही केतरकी मंजय्याजी का है।"

मैं हक्का-बक्का हो गया। उसको बुलाकर मैंने कहा, "ठहरो।...अपना नाम बताओ।"

"यशवंत।" मैं अंदर से कांप उठा। अपना नाम बताकर वह तुरंत लौट पड़ा।

"यशवंत ! ठहरो ! रुक जाओ। एक बात और पूछनी है।"

लड़का मुड़ा और पास आकर बोला, "क्या चाहिए? स्कूल के लिए देर हो रही है ...इसीलिए..."

"ठीक है, घंटा बजने के पहले स्कूल पहुंच जाना चाहिए, यह भी सही है। मेरे कारण तुम्हें बड़ा कष्ट हुआ। देखो, तुम्हारे नाना मेरे मित्र हैं, इसीलिए मैंने रुकने को कहा।"

"कौन? चोच्चलमने के बड़े हेग्गड़ेजी?...तो आप कौन हैं?"

"शिवराम कारंत है मेरा नाम।"

"हमारे घर आप नहीं आएंगे? मेरे पिताजी को आप हर महीने मनीआर्डर भेजते हैं न?" उस लड़के ने मेरा हाथ पकड़कर कहा, "केतरकी के घर फिर चले जाइएगा। मेरे माता-पिता आपको देखकर बहुत खुश होंगे।" वह मुझे खींचने लगा। मेरे मन में एक बात बैठ गई थी कि जिन मंजय्या की मुझे तलाश है, वह बूढ़े हैं। इसलिए मन में कुछ शंका पैदा हुई। यह मंजय्या मेरे मित्र के दामाद ही होंगे। उनके कांपने वाले हाथों से किए हस्ताक्षर

से मैंने अनुमान किया था कि वह बूढ़े हैं। इसीलिए बूढ़े मंजय्या के घर जाने की बात कही थी। ऐसा लगा कि इस लड़के के पिताजी इतने बूढ़े न होंगे, इसलिए कुछ सोचते हुए खड़ा हो गया।

"क्या बात है, कहिए?" लड़के ने पूछा।

"तुम्हारे पिताजी के दस्तखत के कांपते अक्षरों से मैं सोचता था कि वह बूढ़े हैं। तुम्हारे घर जाने के बदले मैं दूसरे ही घर चला जाता।"

"मैंने अगर पहले ही आपका नाम पूछ लिया होता तो अच्छा होता। आइए, आइए! वहां चलूं, जहां मेरे पिताजी सोए हैं। उनको एक तरह का वात है। उन्हें पड़े करीब एक वर्ष हो गया।" उस बालक ने दीनता से कहा। फिर उसने मेरा हाथ नहीं छोड़ा। आधा मील दूर स्थित अपने घर ले गया। घर में घुसते ही अपना बस्ता एक ओर रखकर अंदर भागकर गया, अपने पिताजी और माताजी को मेरे आने का समाचार दिया, फिर हाथ-पैर धोने के लिए एक लोटा पानी रखकर चटाई बिछाने लगा। इतने में एक दुबली-पतली स्त्री मुझे दिखाई पड़ी—अच्छी, सुमंगला। गरीबी की छाया बदन पर मंडराते रहने के बावजूद वह सच्ची गृहलक्ष्मी लगती थी। बिना किसी हिचकिचाहट के वह मेरे सामने आकर खड़ी हो गई और नमस्कार करके बोली, "मेरे पिताजी के पुण्य से आप हमारे घर पर आए। आप सब सकुशल हैं न?...मेरे यजमान जहां सोए रहते हैं वहीं...।" फिर यशवंत को बुलाकर कहा, "यशू, तुम्हारे छोटे स्कूल चले गए। तुम नहीं जाओगे, तो कोई हर्ज नहीं।"

"हां मां, आज जब यह घर आए हैं...मैं जाऊं तो कैसे? तुम अंदर जाओ, मैं इनकी खातिरदारी करूंगा। नाश्ता करने के लिए कुछ बनाओ। आप अब पिताजी से मिलेंगे या नाश्ते के बाद...?"

"नाश्ता कर लेने दो, बेटा!" कहकर मां भीतर चली गई। मैंने उस बालक को अपने पास बिठाया, फिर उसकी मां के बारे में, भाइयों के बारे में, खेतीबारी के बारे में कई बातें पूछीं। इतने दिनों तक इनके घर न आ सकने का मुझे दुख हुआ।

लड़के ने पूछा, "मेरे नाना आपसे खूब परिचित हैं ! वह बंबई में मर गए थे न? मरते समय उनके पास कोई था? सीताराम हेग्गड़े गए रहे होंगे?"

मैंने कहा, "मैं फिर कभी सब बातें बताऊंगा। खेती के लिए तुम्हारे पास बयालिस सेर के सिर्फ तीन खेत हैं। इतना काफी होता है?"

"दूसरा चारा नहीं... ।मां कहती है—पहले बहुत कुछ था...कर्ज हुआ, बड़ों का कर्ज चुकाने में सब चला गया। पिताजी ने इतना किसी तरह बचा लिया।"

इतने में यशवंत की मां ने थोड़ा दूध-पानी और चावल की सूजी से बना नमकीन हलवा (उघिट्ट) लाकर सामने रख दिया और कहा, "यह गरीबों का घर है। चाय की बुकनी नहीं लाए हैं, लाने का रिवाज भी नहीं है। यह रवे का बना उघिट्ट भी नहीं है। चावल की

सूजी का है। सुदामा का आतिथ्य स्वीकार करें।"

"अम्मा, आप ऐसी बातें न कहें। सादर-सत्कार चावल की सूजी, गेहूं की सूजी, चाय, कॉफी में नहीं है। वह है हमारे दिल में, अंतःकरण में।"

नाश्ता करते समय मैंने उस लड़के को चुप बैठे देखा। "तुम भी इसी में से कुछ ले लो।" मैंने कहा, तो वह बोला, "मेरा कांजी का भोजन हो गया है।" आग्रहपूर्वक मैंने अपने नाश्ते में से उसे भी थोड़ा नाश्ता कराया।

फिर मां-बेटे मिलकर मुझे एक कमरे में ले गए। बैठने के लिए मुझे एक पीढ़ा दिया। कंदील की बत्ती जलाकर मंजय्या के बगल वाली खिड़की खोली। उन्हें उठते देखकर हमने बहुत मना किया, पर उन्होंने हमारी एक न सुनी; धीरे से उठकर दीवार के सहारे पीठ टिका कर बैठ गए। मैं उनके सामने जा बैठा। उन्होंने ही बात शुरू की।

"यों तो मैं दिन में दो बार उठकर स्नान करने और एक बार निवृत्त होने के लिए जाता हूं, पर पकड़ने के लिए कोई आधार तो चाहिए ! यह एक ऐसी बीमारी है जिसका कोई नाम नहीं। कहते हैं कि बरायनाम के लिए वात है। वात के लिए किया जाने वाला सब इलाज किया गया, पर कोई लाभ नहीं। जब तक पीड़ा भोगने को लिखा है, तब तक भोगना ही चाहिए न !...और किसी तरह की तकलीफ नहीं है। मेरा यह यशू जरा बड़ा हो जाए, फिर मुझे किसी बात का डर नहीं।"

"आपने नाना का नाम ही उसका रखा है।"

"आपने भी मेरे ससुर की बात लिखी है...। मैं इस हालत में हूं, इसीलिए आपके पत्र का जवाब न दे सका। लिखवा सकता था कि...क्या मेरे ससुर को बहुत समय से जानते हैं?"

तब मैंने अपने और उनके ससुर के परिचय की सारी बातें सुनाईं। इसके बाद उस पालने वाली मां की भी कहानी सुनाई। तीनों ने मेरी बातें उतनी ही श्रद्धा से सुनीं, जैसे भक्तगण भागवत-कीर्तनकार का कीर्तन सुनते हैं। जब मैंने पार्वतम्मा के अंतिम समय का चित्रण किया, सभी रो पड़े।

"उस पुण्यात्मा वृद्धा को आप देखकर आए। उसको हमने कभी नहीं देखा। आपने बहुत अच्छा काम किया। हमारे ससुर का नाम अमर कर दिया...। देखिए न, मेरे ससुर अपनी स्त्री व बच्चों के—खासकर पुत्र तथा पत्नी के दुश्मन बन गए न ! अब सभी ससुर की निंदा करने वाले ठहरे। हां, एक बात है...उनका इस बेटी पर थोड़ा अधिक प्यार था। जब मैंने इससे विवाह किया, तब हमारा घराना काफी संपन्न था। लेकिन परिवार बड़ा था। जायदाद का बंटवारा हुआ तो कर्ज के मारे हम दब गए। पिता द्वारा लिए गए कर्ज के कारण हमारे हिस्से में कुछ भी नहीं बचा। तब अपना सहारा देकर हमें बचाने वाले हमारे ससुर ही थे। कोर्ट और घर के लिए काफी दंड दिया, पर कोई लाभ नहीं हुआ।

वह जो कुछ कर सकते थे, उन्होंने किया, पर कुछ नहीं हुआ। फिर यदि यह कहूं कि उन्होंने ही यह छोटी-सी जायदाद हमारे लिए बनाकर दी, तो गलत नहीं होगा। परंतु हमारे साले सीताराम को यह सहन नहीं हुआ। ससुर के जीवन-काल में भी मेरे और उसके बीच पूरब-पश्चिम-सा संबंध रहा। कुछ वर्षों के बाद ससुर गांव छोड़कर चले गए, उसके बाद कोई संपर्क नहीं रहा। हम जान ही नहीं सके कि वह कहां रहते थे। उन्हें न जाने कितनी तकलीफ होती थी! क्या जाने, उन्होंने ऐसा क्यों किया?"

मंजय्या बोलते-बोलते थक गए। इसलिए मैंने उनकी पत्नी से पूछा, "और बाकी लड़कियां छोटी हैं या आप से बड़ी हैं? अब वे कहां-कहां हैं?"

उनकी पत्नी ने बताया, "हम चार संतानें हैं। बड़ा सीताराम ही है। कुमटा में बखार बनाकर रहता है। मेरी मां भी उसी के साथ रहती है।"

"जब मायका इतना समीप है, तो आप वहां आया-जाया करती होंगी और वे भी यहां आते ही होंगे?"

"इस बारे में क्या पूछते हैं? जब तक मेरे ये अच्छी हालत में थे और हमारे पिताजी गांव में थे, तब अकसर आना-जाना चलता रहा। मैं ही लड़कियों में बड़ी हूं। मेरी मां और बड़े भाई की रीति-नीति दूसरे प्रकार की है। उनके लिए हमसे, बल्कि परमात्मा से भी बड़ा पैसा..."

मैं हंस पड़ा।

"मुझे यह बात नहीं कहनी चाहिए थी न? हमारी मुसीबतों में उनका सहारा हमें नहीं मिला। फिर भी इस तरह उनकी शिकायत नहीं करनी चाहिए थी। किंतु अब क्या हो सकता है, जब कह ही दिया? हां, यह तो एक गलती हुई। मेरे पतिदेव ऐसा ही कहा करते हैं।...न जाने क्यों कह दिया?"

मंजय्या ने कहा, "जलजा, तुम अंदर जाओ। शीघ्र कुछ खाना बना दो।"

"नहीं, भोजन के लिए मैं कुमटा जाऊंगा। सभावंत से कह आया हूं कि भोजन के लिए आपके यहां आऊंगा। कुछ देर हो जाए, तो भी परवाह नहीं ।"

"वह पुण्यात्मा हैं। हमारे सीताराम का सभावंत से काफी अच्छा परिचय है। उनके बड़े भाई से भी अच्छा परिचय था। वह मर गए। आज की परिस्थिति में जो चले जाते हैं, वे ही पुण्यात्मा हैं।"

"संसार के कष्टों के कारण आप ऐसा कहते हैं। किसको कष्ट नहीं है? कष्ट के बिना सुख की शैया पर आराम करने वाला सैकड़ों में कोई एक होगा। इन बातों से हम अपने मन को कड़वा कर लें, तो कैसे चले?"

"सच है। ऐसी बात कहनी नहीं चाहिए। बच्चों के सामने तो कहनी ही नहीं चाहिए। 'हम क्यों पैदा हुए?' जैसा भाव तो उनके मन में उठने ही नहीं देना चाहिए।"

तब यशवंत ने कहा, "पिताजी, आप ही कहा करते थे कि यह क्यों समझते हो कि कष्ट आखिर तक रहता है ! आप ही कहते थे कि वह सब थोड़े-से समय का है?"

"हां बेटा, परमात्मा ने इतने दिन तो चलाया न ! अब तुम भी जब कमाने-योग्य बन जाओगे, तब..."

मैंने कहा, "तब सब ठीक हो जाएगा। आपके पुत्र का भाग्य आपसे भी अच्छा होगा। सुनो यशवंत, तुम पढ़-लिखकर बड़े हो जाने पर अपने माता-पिता का पोषण करने में आगा-पीछा तो नहीं सोचोगे?"

लड़के ने कहा, "पुत्रों का रहना किसलिए है?"

"तो मैं अब चलूं। अभी दो दिन कुमटा में हूं, फिर एक बार आकर मिलूंगा।"

"वह सब नहीं चाहिए।" वह बेटे की तरफ देखकर बोले, "यशू !"

"अच्छा, ठीक है, पिताजी! मैं सभावंत के घर दौड़कर जाऊंगा और उनके घरवालों से कहकर आऊंगा।" कहते ही वह लड़का उठ खड़ा हुआ।

"नहीं, बेटा!" कहने से पहले ही वह तेजी से दौड़ पड़ा था। मुझे लगा कि यशवंत जी अपने छुटपन में इसी प्रकार फुर्तीले रहे होंगे। मैंने विषयांतर करने के लिए पूछा, "आपने अपनी पत्नी का नाम जलजा बताया न?"

वह हंसे और बोले, "हमारे ससुर ने आंख देखकर पराशिव की भांति अपनी बेटियों के नाम जलजाक्षी, वनजाक्षी और मीनाक्षी रखे।"

मैंने कहा, "और भी लड़कियां होतीं तो शायद कामाक्षी, हरिणाक्षी नाम रख देते !" फिर थोड़ा हंसकर कहा, "आपकी दोनों सालियां कहां रहती हैं?"

"वनजा का घर दक्षिण की ओर है, केक्कार ग्राम के समीप। वह बहुत अमीर घराने में ब्याही गई। अच्छी संपत्ति है और आराम से सांसारिक जीवन बिता रही है। दूसरी 'याण' नामक बिलकुल ठेठ देहात में ब्याही गई है। मेरी जानकारी में उसकी भी स्थिति अच्छी है, चिंता करने की जरूरत नहीं हैं। उन दोनों का रिश्ता मेरी सास ने ही तय किया था। मैं ही बस अपने ससुर का दामाद हूं। मेरे विवाह के समय मेरी सास ने वर चुनने पर उलाहना दिया था, झिड़की दी थी। इसलिए अगले दो दामादों को उन्होंने ही ढूंढ़ा। अब यही समझिए कि कुल मिलाकर मेरी सास की जीत हुई। मैं मैट्रिक पास करके ताल्लुके में क्लर्क लग गया। मेरे ससुर का विचार था कि पढ़ा-लिखा लड़का है, बड़ा घराना है, किसी तरह जीविका चला लेगा। मेरी सास का विचार था कि लड़कियां जिस घर में भेजी जाएं, वह संपन्न घराना होना चाहिए। कम संपत्ति वाले घर में, जहां ज्यादा हिस्सेदार हों, कन्याओं को किसी भी हालत में नहीं ब्याहना चाहिए। वह खुद भी अमीर घराने से आई हैं न? लेकिन मायके से उनको कुछ भी प्राप्त नहीं है। उन्होंने अपने खुद के बच्चों को कुछ दिया है कि नहीं, हम नहीं जानते; हमें तो नहीं दिया है।"

"दिया है?" कहते हुए जलजाक्षी ने प्रवेश किया, "दिया तो हमेशा उन्हें जाता है, जिनके पास कुछ होता है। जिनके पास नहीं होता, उनको कोई नहीं देता है!"

मंजय्या बोले, "चाहे माता से हो, चाहे पिता से, युवावस्था के प्राप्त हो जाने पर बुजुर्गों की वस्तुओं की आशा नहीं करनी चाहिए। हमें अपने पैरों पर खड़े हो जाना चाहिए। मुझे इस बीमारी ने गिरा दिया है, नहीं तो इस तरह बड़बड़ाने, शिकायत करने की नौबत नहीं आती।"

फिर वह विषय की पुनरावृत्ति करते हुए अपने ससुर के बारे में पूछने लगे। मैंने भी कुछ बातें बताई। इन बातों के सिलसिले में उनके ससुर की वसीयत के रूप के संदेश व धन के बारे में बिना किसी दुराव-छिपाव के सुना दिया। उन्होंने सब सुन लिया। फिर पूछा, "ये सारी बातें हमारे सीताराम को मालूम हो गई हैं?"

"हां, मालूम हो गई हैं। वह उसके बाद बंबई भी गए थे। आपके ससुर के नाम पर जो रकम बैंक में है, वह उन्हीं को मिलेगी। अब तक मिल भी गई होगी।"

"आप उनके घर नहीं गए हैं?"

"अभी तक नहीं गया हूं। एक बार जाना चाहता हूं। गांव छोड़ने के पहले जाऊंगा।"

"हमारे साले से प्रत्यक्ष भेंट हो गई है?"

"मैं जहां रहता हूं, वह वहीं एक बार आए थे। मुझे पत्र भी उन्होंने लिखा था। पत्र न लिखने वालों में से बस आप ही हैं।"

"मुझसे गलती हुई। आप इससे नाराज तो नहीं हुए?"

"ऐसी कोई बात नहीं है। इसके अलावा, आपके हाथ की लिखावट किसी मरीज या वृद्ध की लिखावट के समान थी। इसीलिए सोचा कि आप पत्र नहीं लिख पाए होंगे।"

यद्यपि मैंने उनको ससुर की अमानत की बात सुनाई थी, तथापि मंजय्या ने इस बारे में अपनी कोई आसक्ति नहीं दिखाई। ऐसा मुझे लगा।

"हमारे ससुर पहले भी इसी तरह सब गंवा चुके हैं—ऐसा कहा जाता है। मैं नहीं कह सकता कि उन्होंने गंवा दिया। पर हमारी सास को वही दिखाई देता था। मेरे ससुरजी की बात ही निराली थी। जो भी उनके पास जाकर रोता, उसे वह सब कुछ दे देते थे। अपने स्वभाव के अनुसार उन्होंने आपको सूचित किया कि अच्छे कामों के लिए ही रुपये खर्च किए जाएं। कितने लोगों को ऐसी बुद्धि आती है !"

हम सभी कहते हैं कि जो भी बचे, वह हमारे बच्चों को मिले। उन्हें अपने बच्चे और पराए, सब एक समान दिखाई पड़े। सीताराम की तरह उस धन की उन्होंने आशा नहीं की। "पंद्रह हजार," मंजय्या ने इतना कहा। इससे मुझे खूब संतोष हुआ।

उस दोपहर को मेरे लाख मना करने के बावजूद, उन्होंने मेरी बगल में ही बैठकर भोजन किया। उनकी बगल में यशवंत बैठा था। जब पत्तल लगाई जा रही थीं, तभी उनके

अन्य दो छोटे बच्चे भी स्कूल से आए। हाथ-पैर धोकर बड़े भाई की तरह वे भी अपने-अपने कांसे के कटोरे लेकर भोजन करने के लिए कतार में बैठ गए। तीनों बच्चों के चेहरे उनकी मां के चेहरे से मिलते-जुलते थे। सभी के चेहरे पर गरीबी की छाप दिखाई देती थी। पेट भर खाने के लिए न मिले, तो चेहरे पर भला और क्या दिखेगा !

भोजन करते समय मैंने पूछा, "यशवंत, तुम्हारे छोटे भाइयों के नाम क्या हैं?"

उसने कहा, "यह जयंत, यह भगवंत।"

मैंने पूछा, "ऐ भगु, तुम्हारे परनाना का नाम क्या है, जानते हो?" उसके लिए मैं नया आदमी था, इसलिए वह मेरे मुंह की ओर ही ताकता रहा।

मंजय्या ने पूछा, "कौन हैं?"

"आपके ससुर के पिताजी, वे भी भगवंतय्या ही हैं।"

"ओहो, ऐसा ! भगु, तुम्हारे परनाना का नाम तुम्हारा नाम ही है।"

"यह कौन हैं, पिताजी? इनके साथ तुम भी आकर भोजन के लिए बैठ गए !"

"बेटा, यह बहुत दूर से आए हैं—हमारे पुण्य से। इस तरह रोज आनेवाले नहीं हैं, इसलिए उठकर यहां तक आया।"

मैंने उस लड़के से कहा, "भगु, जानते हो, मैं यहां क्यों आया?"

"मैं नहीं जानता।"

"क्यों आया, बताऊं?"

"बताइए..."

"होन्नगछे में मंजय्या नाम के एक सज्जन हैं...।"

"उनको देखने के लिए?"

"नहीं... उनके लड़के को।"

"यशवंत को?"

"नहीं..."

"जयंत को?"

"नहीं...!"

"फिर?"

"हनुमंत को। लेकिन मेरे यहां आने के पहले ही हनुमंत भगवंत हो गया था।"

सभी लड़के हंस पड़े। सबसे छोटा जो था, उसने कहा, "हूं-हूं। आप अब मजाक बंद करिए। आप पिताजी को देखने आए हैं।"

"नहीं, भगवंत को अपने गांव ले जाने के लिए।"

"मैं नहीं जाता...।"

"मैं तुम्हें साथ लिए बिना नहीं जाऊंगा। मैंने तुम्हारे पिताजी से पूछ लिया है। उन्होंने भेजने की स्वीकृति भी दे दी है। उन्हें यशु चाहिए, तुम्हारी मां को जयंत चाहिए। मैंने कहा

कि फिर मुझे भगवंत दीजिए और उन्होंने जवाब दिया कि 'दूंगा'।"

भगवंत दस वर्ष का था। मेरी बात सुनकर उसका मुंह फूल गया। आंसू आने ही वाले थे। खाना परोसने के लिए खड़ी उसकी मां ने ये बातें सुनीं, फिर पुत्र के दुख को देखकर कहा, "तुम्हें इतना भी मालूम नहीं होता भगु, कि ये मजाक कर रहे हैं। मेरे लिए मेरा भगु भला कम प्यारा होगा?" उन्होंने अपने पुत्र को धीरज बंधाया।

मैं भी खूब हंसा, तब जाकर भगवंत को तसल्ली हुई। भोजन के बाद तीनों लड़कों ने स्कूल से छुट्टी ली और मुझे घेर लिया।

"बच्चो, कुछ देर इन्हें सोने दो।" मां ने कहा, तो भगु बोल पड़ा, "मां, तुम चुप रहो। बड़े भाई को उनका सब रहस्य मालूम है। यह कहानियां लिखते हैं। हमें एक कहानी जरूर सुनानी पड़ेगी।"

मैंने उनकी इच्छा के अनुसार शुरू किया, "हां, एक गांव में हनुमंत था...।"

लड़के ने कहा, "रहे, मैं उससे डरने वाला नहीं हूं।"

मैंने उन्हें झूठी कहानी सुनाने के बदले आठ-दस बंदरों की सच्ची जिंदगी की कहानी सुना दी। बंदर के बच्चे की तरह भगवंत ने उत्सुकता से सब सुनकर कहा, "अब चाहे तो लेट जाइए।"

मैंने वही किया। चैन की नींद लेने के बाद उठकर हाथ-मुंह धोया ही था कि चाय आ गई। मैंने घर की मालकिन से कहा, "आपने कहा था कि चाय नहीं है। मेरे लिए मंगवाई न? कोई जरूरी तो नहीं थी। एक वक्त चाय या कॉफी न मिले, तो क्या हुआ !"

"जिनकी आदत होती है, उन्हें यदि एक वक्त भी न मिले तो, कहते हैं, सिर-दर्द शुरू हो जाता है !"

"यों तो मुझे सभावंत के घर चाय मिली थी।"

"अच्छा, रहने दीजिए।"

"पीने में तकरार नहीं !" कहकर मैंने चाय पी और बातचीत करने के लिए लेटे हुए मंजय्या के पास गया। वह फिर बिस्तर पर उठकर बैठ गए।

"एकबारगी इतना बैठने से पीठ में दर्द हो जाएगा, " मैंने कहा।

"नहीं होगा," वह बोले।

"इसी तरह आप रोज कहते रहें कि दर्द नहीं होगा, बीमारी चली जाएगी। मन को इसी तरह कहते जाना चाहिए। कई बार मन की बीमारी ही शरीर को पीड़ा देती है—ऐसा डाक्टर लोग बताते हैं।"

"प्रारंभ में मुझे भी ऐसा ही हुआ। बंटवारा हो जाने के बाद जब सब कुछ खो गया, तब कर्ज का भार देखकर मेरे हाथ-पैरों की शक्ति ही चली गई। तब जो गिरा तो गिर ही गया।"

मुझे उनकी बेचारगी पर तरस आया। उसी दिन उनका कोई भाई-बंधु या उनकी पत्नी धीरज बंधाती तो शायद उनमें चेतना आ जाती। बदले में ससुरजी की अनुकंपा ने, सहायता ने उन्हें उनकी असहायता का ही अहसास कराया। यह क्या उचित हुआ?

केवल थोड़ा सुनकर रोग-निदान के लिए मैं जाऊं तो कैसे? इसलिए मैंने होशियारी से कहा, "देखिए, मैं गांव जाने के बाद एक दवा भेजूंगा। बड़े-बड़े वात के रोगी उस दवा से चंगे हो गए हैं। प्रतिदिन उसे हाथ-पैर में मलकर शरीर को धीरे-धीरे दबवा लीजिए। आप अपने प्रिय इष्ट-देवता का स्मरण करते हुए कहते जाइए...'अब क्या ! यह नहीं रही, चंगा हो गया। बस, चंगा हो ही गया।' आप भीमसेन की तरह हट्टे-कट्टे, मोटे-ताजे न बनें तो भी आप में इतनी शक्ति आ सकेगी कि घर में कम-से-कम आप चल-फिर सकेंगे।"

"सच?"

"कई इससे चंगे हो गए हैं...इसीलिए तो आपसे कहा। मैं न तो कोई पंडित हूं और न वैद्य।"

"मुझे आपकी बात का यकीन है।"

"मुझमें इतना विश्वास है तो आप जरूर अच्छे हो जाएंगे।"

"हां, भाई!"

उसके बाद मैंने इधर-उधर की गप्पें मारीं। बच्चों और उनकी पत्नी की अनुपस्थिति देखकर मैंने धीरे-से पूछा, "देखिए, कोडकणि कहां है? आपको जिस तरह प्रतिमास पच्चीस रुपये भेजता हूं न, वैसे ही कोडकणि के एक सज्जन को रुपये भेजने के लिए आपके ससुर ने मुझसे कहा था।"

"कोडकणि ... तीन हैं। कोडकणि में कौन?"

"धारेश्वर शीन...।"

इस बात पर वह मुस्कराए। फिर इधर-उधर देखकर बोले, "बच्चे तो नहीं हैं न यहां?"

"नहीं," मैंने कहा।

"हमारे ससुरजी का मन विचित्र था... उसमें कोई गलती नहीं, शीन उनका लड़का...।"

"पुत्र? यानी..."

"मैं तो ज्यादा नहीं जानता हूं। हमारे ससुरजी की रखैल का पुत्र... । मतलब... हमारे ससुर की एक परिणीता पत्नी थी, यह सच है। परंतु उन्हें उससे सुख भी मिला क्या? नगण्य। कहा जाता है कि इसीलिए उन्होंने धारेश्वर सरसी नामक कलावंती को रखैल बना लिया था। सुना है, उससे एक या दो पुत्र हैं। यह शीन तबला अच्छा बजाता है। मेरे विवाह के समय ही गांव में यह शोर था। इन बातों से हमारे सास-ससुर का दांपत्य विकट हो गया था। इसके अलावा हमारे पूर्वजों में रखैल का रहना एक गौरव का विषय माना जाता था। नहीं तो...।"

"यानी?"

"आप क्या समझते हैं ! पूर्वज वैसा करते तो थे, पर शोहदों की भांति आज एक घर, कल दूसरा घर नहीं करते थे। उसमें भी एक रीति थी, एक रिवाज था। इतना नहीं, कुछ ऐसे भी थे जो उनको अपनी पत्नी के समान मानते थे और वे भी पाणिगृहीता से बढ़कर उनको मान-सम्मान देती रहीं। मैंने जहां तक सुना है, उस आधार पर कह सकता हूं कि यह धारेश्वर सरसी भी उसी तरह रही। उस संबंध के कारण ही, सुना था कि मेरे ससुरजी का दिमाग खराब हो गया था। यह मतलब नहीं कि वह पागल हो गए। पुत्र के सामने, पुत्र-पुत्रियों के आगे, सगे-संबंधियों के सामने मेरी सास उन्हें सरसी का नाम लेकर ताना मारने लगीं। तब हमारा साला भी जवान हो गया था, उसे लोक-व्यवहार का ज्ञान हो चला था। अपने पुत्र के धैर्य के बल पर हमारी सास उछल-कूद करने लगीं। आप क्या समझते हैं कि हमारे ससुरजी ने इस सास को सोने के कम गहने दिए हैं?"

"किसको? धारेश्वर..."

"नहीं भाई... नहीं जानता कि उसको उन्होंने क्या दिया, दिया तो अपनी कमाई का ही दिया। मैंने सास के विषय में बतलाया। मेरी सास को भी उन्होंने कम नहीं दिया। अपने हाथ से उन्होंने जितना दिया, उससे दुगुना धन इन्होंने निकाल भी लिया था। यदि अड़ जाते तो हमारे ससुरजी ऐसा कर सकते थे कि इनको दमड़ी भी न मिले। ऐसा वह करना नहीं चाहते थे। सब कुछ उन्होंने ही कमाया था। इनके मायके वालों ने प्रारंभ में यानी चोच्चलमने से जब आई, तब कुछ कर्ज ससुरजी को दिया हो तो सूद सहित सब-कुछ ससुरजी ने अदा कर दिया है।

"पहले-पहल उनको सुपारी के व्यापार में जितना नुकसान हुआ, उतना ही बाद को अच्छा हुआ। देखिए, यह तो तेजी-मंदी का व्यापार है। उसमें हार गए तो बस गड्ढे में गिर गए, उठे तो बस शिखर पर पहुंच गए। लेकिन भाव में, खरीदने में, देने में वह ज्यादा निगाह रखने वाले थे। इसीलिए तो इस व्यापार में लाखों रुपये उन्होंने कमाए !

"गांव छोड़कर जाते समय उन्होंने जो छोड़ा था, वह क्या कम था? लेकिन, कहते हैं कि उन्होंने अपने लिए भी ज्यादा धन नहीं लिया।"

इतने में उनका छोटा लड़का भगवंत वहां आया। हमारी बातचीत रुक गई। कोडकणि के बारे में कुमटा में ही जानकारी लेना बेहतर होगा—यह सोचकर बिना उनसे फिर कुछ पूछे चुप हो गया। उनसे आज्ञा लेकर इधर आया। घर की मालकिन से भी चार बातें कीं। उन्हें भी बताया कि जिस दवा के बारे में कहा था, उसे भेज दूंगा। फिर मैंने कहा, "अम्मा, देखिएगा, इन बच्चों की पढ़ाई न रुक जाए। उनसे सचमुच आपकी भलाई होगी। उनकी पढ़ाई के लिए जो चाहिए, वह मैं अपने यहां पड़ी आपके पिताजी की अमानत में से दे सकूंगा।... उनका स्वास्थ्य भी संतोषजनक नहीं है। आप रोज उनको दूध-दही थोड़ा ज्यादा

दिया कीजिए। किसी बात की चिंता मत कीजिएगा। अपने यशवंत से पत्र लिखवाते रहिएगा। समझिए कि मैं आपका एक बड़ा भाई हूं।"

इतना कहकर मैं आगे बढ़ा। घर के सामने वाले खेत तक वह और उनके लड़के मुझे छोड़ने आए। यशवंत तो मुझे बाजार तक पहुंचाकर लौटा।

इसके बाद, मेरे कुमटा छोड़ने से पहले यशवंत आकर मुझे फिर अपने घर ले गया और मंजय्या का भी दर्शन कराया।

दस

"ओहो, आप आए थे, उसके लिए अच्छा काम किया। होन्नगछे मंजय्या बिलकुल थका-मांदा, कंगाल बना हुआ है। ससुर के बचे धन में से कुछ रुपये दिए जा सकते हों तो उसी को दीजिए। उसे रुपयों का तनिक भी मोह नहीं है, पर ग्रहदशा देखिए। वैसे तो उनके तीन पुत्र हैं, लेकिन वह तो शरशैय्या पर सोया है।"

"उनकी बाकी दो लड़कियां—एक तो याण में ब्याही गई है, दूसरी केक्कारु घर गई—उनकी स्थिति कैसी है?"

"वे तो हमारे इस तरफ के घरानों में एक मजबूत आसामी हैं। आपको उन्हें देखने की जरूरत ही नहीं।...अभी तक आपने हमारे सीताराम को नहीं देखा है न? पास में ही उसका घर है...सौ गज की भी दूरी नहीं है।"

"आपका और उनका संबंध कैसा है?"

"ऊपर-ऊपर अच्छा, पर भीतर-भीतर ऐसा-वैसा। उसका दिखावा, चाल-ढाल और तौर-तरीका हमें पसंद नहीं। उसका कोई व्यवहार सरल, सीधा नहीं है। उसको ऐसा नहीं लगता कि संसार में कोई भला आदमी होगा।"

यह बात सुनकर मैं हंस पड़ा।

सभावंत ने पूछा, "क्यों हंसे?"

"उसके लिए संसार में कोई सज्जन नहीं है—कहा न आपने? इसका एक अनुभव मुझे भी है।"

"तो, आपने उसे देखा है।"

"वह हमारा घर ढूंढ़ते हुए आए थे।" कहकर और उनके आने का प्रकरण संक्षेप में सुनाकर मैंने आगे कहा, "अब इस गांव में आने पर फिर उनको देखना है, देखूंगा। कहा था तो देखना चाहिए न? लेकिन उन्होंने मुझे वकील द्वारा नोटिस भिजवाया।"

"यहां तक आ गया इतने में ही? तब क्यों जाते हैं? आपको और कोई काम

नहीं है?"

"मुझे क्या फर्क पड़ता है? जो भी हो, मेरे मित्र के संबंधी हैं न ! उनकी मां को ही देखकर आ जाऊंगा।"

"आपको कोई धंधा नहीं है। यशवंत हेग्गड़ेजी के चल बसने से क्या उसे दुख है? उन्हें भगाने वाली बहू ही है। उसके साथ यह सीताराम भी मिला हुआ था।"

"संसार में छोटे-मोटे उपद्रव होते ही रहते हैं। कोई मनमुटाव था क्या?"

"किनके बीच? पति-पत्नी, पिता-पुत्र के बीच?"

"क्यों नहीं? पुत्र जब प्रौढ़ हो जाते हैं, सैकड़ों घरों में ऐसा होता ही है।"

"यहां ऐसा होने के लिए पित्रार्जित कुछ भी नहीं था। कुमटा आने के बाद घाट से हाथ धोकर, सब-कुछ उन्होंने ही बनाया था। उनकी कमाई कुमटा आने के बाद की ही है।

"वह तो बड़े धैर्यवान थे। मुझसे दस वर्ष बड़े भी। आते समय अपनी पत्नी के घर खाली हाथ ही आए। फिर एक साहूकार के यहां मुंशी का काम करने लगे। चार साल तक आंख मूंदकर काम किया। व्यापार की खूबी मालूम होते ही अपने ससुर से उन्होंने चार-पांच हजार रुपये कर्ज लिया होगा। खुद व्यापार शुरू किया। सुना था कि वह कर्ज तीन ही वर्षों में चुका दिया। खास बात यह है कि उनका भाग्य अच्छा था। जब से कोठी बनाई तब से उनका नसीब खुल गया। वह किन्हीं बेकार की बातें में नहीं पड़ते थे। अपना काम देखा करते। लक्ष्मी प्रसन्न हुई, पर एक दमड़ी भी व्यर्थ नहीं खर्च करने वाले थे। पहले वह जैसे रहे हों, कुमटा आने के बाद, एक स्थिति पर पहुंचने के उपरांत, अपनी स्त्री और बच्चों को उन्होंने किसी प्रकार की कमी नहीं आने दी। सीताराम को स्कूल भेजा। तीनों लड़कियों का विवाह किया...।

"धन का उन्होंने अनावश्यक व्यय नहीं किया। कहते हैं कि घाट पर जब अपने घर में थे, तब उन्होंने बहुत धन उड़ाया। मुझे लगता है कि उन्होंने यहां वैसा नहीं किया। उनके हाथ में जब काफी धन इकट्ठा हो गया, तब भी जब चार आदमी उनसे कर्ज मांगने गए, किसी को हाथ खोलकर नहीं दिया। एक बार हाथ जला चुके थे न !"

"सुना है, उनका कोई तिरछा व्यवसाय था?"

सभावंत हंसे, "वह कौन-सी बड़ी बात है ! हमारे यहां जो बड़े कहलाते हैं, उनमें से कुछ की यह आदत ही है। वह एक तरह का शौक है, भाई ! सच है कि उनकी भी एक थी, पर उसे उन्होंने न तो बंगला बनवाकर दिया और न अलंकारों से सजाकर जुलूस ही निकाला। उसमें भी एक सीमा थी। अगर इसे एक दुर्गुण मानें तो वह उनमें था। मैं इससे इंकार नहीं करता।"

"कहते हैं कि इसी के कारण घर में संघर्ष पैदा हुआ?"

"छिः, इतने के लिए हुआ होगा! तद्विरुद्ध के लिए हुआ होगा।"

"यानी?"

"वह नहीं बोलना चाहिए... आप वहीं जा रहे हैं न? जाएंगे तो उसे देखने पर आपको मालूम होगा कि वह कैसी है..."

"अकेले जाने में मुझे...।"

"अरे, उसमें क्या है! उतने के लिए मैं साथ आ जाऊंगा।"

सभावंतजी ने आश्वासन दिया, इसलिए दूसरे दिन दोपहर का भोजन समाप्त करने के बाद थोड़ा आराम करके हम दोनों सीताराम हेग्गड़े के वखार (कोठी) पर गए। शायद हमारे आने की बात सभावंतजी ने पहले ही उन्हें सुनाई होगी, इसलिए सीताराम हेग्गड़े की सवारी, मोंगरे की भांति खिलकर फाटक पर ही मिल गई और सत्कारपूर्वक अपनी दुकान पर ले गई। हम लोग आरामकुर्सियों पर इत्मीनान से बैठ गए। तांबूल आया।

"चाय बनवाऊं?" उन्होंने पूछा।

"अभी लेकर आए हैं," मैंने कहा। पर सभावंतजी बोल पड़े, "पराये गांव के हैं न, बनवाओ।" वह यह आदेश अंदर जाकर सुना आए। फिर सभावंतजी से सुपारी का भाव, बाजार, यातायात आदि के बारे में काफी देर तक बातें करते रहे। सुपारी खाना मैं जानता हूं, भाव मुझे क्या मालूम? मैं पूरा उदासीन बन गया। जिस तरह उस दिन सीतारामजी के अपने घर आने पर मैं अपने अध्यापक-मित्र से बात करता रहा, उसी तरह सीताराम जी भी आज दुकान पर आए लोगों से, सभावंतजी से बातें करते रहे। मुझे भी हंसी की आवश्यकता थी। बात की विरसता से मौन की सरसता ही भली!

अंदर से एक बालक ने आकर सूचना दी कि जलपान तैयार है, अंदर आएं। वहां मैं संकोच करने लगा। उस अभागिन को पहली बार देखनेवाले मुझ जैसे को यह सुअवसर नहीं था।

अंदर गए। वहा तीन पीढ़ रखे गए थे। दो हमारे लिए और एक घर की मालकिन के लिए। हम बैठ गए। थाल-भर खाने की चीजें आईं। केले का हलवा, रसायन, पूरी, सेव, चिउड़ा और कॉफी।

मैंने कहा, "इतना सारा क्यों बनवाया?"

सभावंतजी ने कहा, "हम तो अभी-अभी घर से जलपान करके आए हैं।"

"फिर क्यों कहला भेजा?" उन्होंने कहा।

"इसलिए कि तुम ऐन मौके पर गायब न रहो।"

"मैं इस सीजन में दुकान छोड़कर कहां जाता हूं!...लीजिए, लीजिए, रसायन-पूरी स्वास्थ्य के लिए अच्छा है।" जब सीतारामजी यह कह रहे थे, तो कमलम्मा की सवारी वहां पधारी।

सीताराम हेग्गड़ेजी ने कहा, "यह हमारी माताजी हैं।" जहां बैठा था, वहीं से मैंने नमस्कार किया।

अच्छे गोत्र की स्त्री—सफेद हृष्ट-पुष्ट देह, पुत्र की तरह ही ठाठ-बाट की चाल। कुंकुम-लेप के अलावा वह बीते हुए समय की एक छोटे देहात की रली जैसी दिख रही थीं। कान में चमकती लकरी लटक रही थी। रेशम की साड़ी पहने थीं। भारी आत्मविश्वास वाली महिला-जैसी दिखलाई पड़ीं।

मैं जलपान समाप्त कर ही रहा था कि इतने में सीताराम हेग्गड़े सभावंतजी को बाहर ले जाते हुए बोले, "आप इनसे आराम से बातें कीजिए, हम बाहर बैठे रहते हैं।" वे बाहर चले गए।

"धीरे-धीरे जलपान कीजिए," मां बोली। मैं चुप रहा।

"हमारे बेटे ने सारी बातें बताई। आप हमारे यजमानजी के गहरे मित्रों में से हैं।"

"गहरे की क्या बात ! केवल छह वर्षों से उनका परिचित हूं।"

"तो भी इतना भरोसा रखने के लिए पात्रता भी तो चाहिए। अपनी पत्नी और निजी बेटे पर भी भरोसा न रखनेवाले पुण्यात्मा...।"

"वह एक स्वभाव है...काल की गति है। सच है कि उन्होंने मुझमें विश्वास रखा, पर नहीं जानता कि मुझमें ही क्यों?"

"एक उत्तराधिकारी उनकी जायदाद के लिए चाहिए न ! अपनों को वह न मिले.. जब इस तरह का हठ रखते हैं तो उसे पूरा निभाना चाहिए न !"

"अम्मा, मैं उनका उत्तराधिकारी कैसे बन सकूंगा? जब तक वह बंबई में रहे, किसी से उन्होंने अपना अधिक संपर्क नहीं रखा।...फिर एक बार उनसे मेरा परिचय हुआ—सो भी रेलगाड़ी में। तब मैं और वह पूना से बंबई जा रहे थे। उन्हें मालूम हो गया कि मैं कन्नडभाषी हूं। इसी वजह से परिचय हुआ। सुनता हूं कि जब उनकी बीमारी ने जोर पकड़ा, तब उन्होंने एक पत्र में मेरा नाम लिखवाकर मेज पर रखा। मेरे उस पते पर एक पड़ोसी से तार भेजने को कहा। उनके कहे अनुसार पड़ोसी ने तार दिया। तब मुझे जाना पड़ा।"

"सीताराम ने यह सब बताया। आखिर पाणिगृहीता का उन्होंने बदला ले ही लिया। ...क्या आप इसे इंसाफ कहते हैं कि उन्होंने वह रकम आपको भेज दी?"

"मेरा यही संदेह है। इसीलिए उभय संकट में पड़ गया हूं। इसी कारण आपके पुत्र को मुझ पर संदेह हुआ। मैंने उन्हें उनका (उनके पिता का) पत्र दिखाया, फिर भी आपके पुत्र ने रजिस्टर्ड नोटिस भिजवा दिया।"

"यह सारा करने की अपेक्षा उस धारेश्वर सरसी के नाम एक वसीयत लिखवा देते तो अच्छा होता। अब उनका पट्ट-पुत्र शील है न, उसके नाम पर कम-से-कम भेज देते तो प्रारंभ किया हुआ जोड़ समाप्त-सरीखा हो जाता।"

"वह सब लेकर मैं क्या करूं, मां ! मेरे सामने यह सब कहने की क्या जरूरत है?"

"लगता है, आपको जरूरत नहीं है तो हमें जरूरत है। उससे हमें जो कष्ट भोगने पड़े और अपमान सहना पड़ा, वह सब कम है न।"

"जो मर गया है, उसके बारे में ऐसा क्यों सोचती हैं? जो भी हो, उसे मृत्यु के साथ ही भूल जाना हमारा धर्म है।"

"ऐसा लगता है मानो आप हमें धर्मोपदेश करने के लिए आए हैं। जब वह थे, तब उनके मित्रों को उन्हें धर्मोपदेश देना चाहिए था।"

"जब वह थे तब... उन्होंने अपने परिवार के किसी सदस्य के विषय में एक भी शिकायत नहीं की; न बुरी बात कही और न अच्छी बात।"

"कहने के लिए मुंह चाहिए न?"

इसका जवाब मैंने नहीं दिया। सोचा कि वह भी चुप हो जाएंगी। फिर उन्होंने कहा, "सुनती हूं कि आपने चोच्चलमने की एक विधवा मुंडा के लिए मंदिर बनवाया।" उनकी ये बातें स्पष्टतया जहर-बुझी थीं। सुनकर मैं चकित हुआ।

"अम्मा, मैं जानता हूं कि आपका मन उद्विग्न है। फिर भी किसी के बारे में इस तरह नहीं बोलना चाहिए।"

"बोलना नहीं चाहिए? मैं विवाहित स्त्री हूं, मेरे रहते उस मुंडा ने मेरे पति पर अपना अधिकार चलाया। आपने उसे ढूंढ़ निकाला और उसके नाम पर एक मंदिर बनवाया है। है न?"

"मैंने नहीं बनवाया। वह सब उनके गुण ने, उनके भगवान की प्रेरणा ने मुझसे करवाया।"

"अच्छा !"

उनसे बातें करने की मेरी सारी इच्छा और आशा मिट्टी में मिल गई। इतना ही नहीं, उस घड़ी मुझे मालूम हुए बिना नहीं रहा कि बेनकय्या के मंदिर को बनवाने का मुझे क्या अधिकार था ! मैं धीरे से उठा। तब मालकिन बोलीं, "मालूम होता है कि देर हो गई। अच्छा, हो आइए। जब कभी इस गांव आएं, तो हमारे घर भी आइए।"

"अच्छा, मां!" कहकर मैं इस तरह दौड़कर बाहर आया, जैसे बाघ के मुंह से छूटकर कोई ढोर भाग आता है। वहां से जल्दी-जल्दी सीताराम हेग्गड़े से मिलकर चल पड़ा।

"अभी दो-चार दिन रहेंगे?" उन्होंने पूछा।

"एक-दो दिन रहूंगा।"

"अच्छा...।आप परेशान न हों। इस थोड़े धन के लिए अदालत न जाने का हमने फैसला कर लिया है।"

"अच्छा ही हुआ, इतना तो गर्व है न बड़ों पर !"

"ऐसा नहीं है। आपके बारे में दो-एक मित्रों ने अच्छी राय दी और हमारी शंकाओं का समाधान किया। इसलिए, आप भी क्या कर सकेंगे?"

"जैसा भी हो, मेरे और मेरे मित्र के पुत्रों के बीच तनाव न आने पाये।"

"सच है," उन्होंने कहा। फिर मैं अपने मित्र सभावंतजी के साथ उस संकोच के पिंजड़े से मुक्त होकर चला गया।

'पाणिग्रहीता पत्नी' कहा था कमलम्मा ने। उस हाथ से पार होने के लिए मेरे मित्र आत्महत्या भी कर लेते, तो मुझे आश्चर्य नहीं होता। पार्वतम्मा के प्रति उनकी बातें ! 'मुंडा-मुंडा' दो-दो बार बोलीं, तब भी मानो अपने वैधव्य को भूल-सी गई थीं। वैधव्य-प्राप्ति से उन्होंने अपना केशमुंडन नहीं कर लिया था। इसी से लगता है, उनकी बोली में ढिठाई आ गई थी।

राह में चलते-चलते मेरे मित्र ने पूछा, "क्या-क्या बातचीत हुई घर की मालकिन से?"

प्रत्युत्तर में मैंने कहा, "अहिल्या, द्रौपदी, सीता, तारा तथा मंदोदरी—मूल संस्कृत श्लोक के अर्थ में ये पांच कन्याएं नित्य-स्मरण के लिए आई हैं। किंतु हमारी ग्रामीण बोली में ऐसी कन्याओं के समूह में रावण की पत्नी मंदोदरी समाविष्ट नहीं होती। हमारे लोगों ने उस पर पति की सारी दुष्टता का आरोप लगाया है। पुरुषों जैसी चाल-चलन वाली किसी ढीठ लड़की के बारे में यदि पूछें कि वह कैसी है, तो यही जवाब मिलता है कि वह मंदोदरी है।" यही स्मरण करके मैंने यह श्लोकार्थ सुनाया। सुनकर सभावंतजी हंस पड़े।

''आपको भी मालूम हो गया कुछ ही क्षणों में !'' वह बोले।

"उनकी बात से उनके स्वभाव का पता चला। उनकी शान, ठाठ-बाट, बोली, घमंड—यह सब देखने पर ऐसा लगता है कि वह दस गांव जीती हुई रली की तरह ही हैं। मुझे अब एक बात सूझती है—ऐसी महिला के साथ यशवंतरायजी ने दिन कैसे बिताए!"

"कहा जाता है कि संसार दो घोड़ों से जुता एक रथ है। इस संसार में जोते जाने वाले पशु घोड़े तो नहीं हैं? इनकी तुलना पशु से की जाए, तो हाथी और बाघ का जुता रथ होगा। बाघ को 'ढोर' नहीं कहा जा सकता। यशवंतरायजी कभी ढोर नहीं थे। यदि ढोर होते, तो यह उन्हें कभी का निगल गई होती। ५. हाथी थे, इसीलिए; बाघ तो रथ खींच नहीं सकता, उन्होंने स्वयं रथ को खींचा। अपनी गंभीरता पर बिना कोई आंच आए, आखिर एक दिन वह जुए को छोड़कर इधर आए।"

"ऐसा दिखता है कि सीताराम माता के साथ रहने से अधिक प्रभावित हुआ है। पर कल होन्नगछे में उस महिला को देखा ! किसको? जलजाक्षी नामवाली को—उसका चाल-चलन, उसकी विनयशील मुद्रा, उसकी सहनशीलता भी क्या थी ! उसका पति मंजय्या भी वैसा ही है। सबसे पहले रास्ते में जो उनका लड़का यशवंत मिला, वह भी उसी तरह ! यह जानने के पहले कि मैं कौन हूं, केतरकी मंजय्याजी का घर दिखाने के लिए निकला।"

सभावंतजी ने कहा, "स्वामी, अच्छे पुत्रों को पाने के लिए भी भाग्य चाहिए, पुण्य चाहिए। यदि भाग्य में हो तो धन किसी को भी मिल सकता है, पर शील, गुण तो भाग्य से आने वाले नहीं होते। वे पूर्वजन्म के पुण्य से ही मिलते हैं।"

मैंने अपने-आप सिर हिलाया। अपनी समझ में न आने वाली हर बात को हम 'भाग्य, अदृष्ट, नसीब' कहकर, और भी ज्यादा न समझ में आनेवाली बात को 'पूर्वजन्म का पुण्य, प्रारब्ध, कर्म' कहकर मान लेते हैं, लेकिन ऐसे व्यवहारों को हमारे भविष्य में क्या स्थान है? दुनिया हमसे ही चलती है, यह किसी को जानने की जरूरत नहीं होने पर भी, अपने शील, अपने चरित्र के जिम्मेदार आप हैं। यदि मनुष्य यह न समझ लें, तो भी वे आत्मशक्ति-हीन पदार्थ-मात्र बन जाते हैं। यह एक बनाने, बढ़ाने और रक्षा करने-योग्य शक्ति नहीं है। मेरे मित्र ने जो समाधान आसानी से पाया था, वह क्या हम सब पा सकते हैं?

मैंने सभावंत को घर में छोड़कर कहा कि मैं समुद्र-तट तक जाकर लौट आऊंगा। वहां तक पहुंचने में एक घंटा लगा। उस शाम की भेंट से मेरा मन बहुत दुखी हो गया था। समुद्र-तट पर पहुंचकर लुढ़कती-बढ़ती लहरों को देखने में काफी समय बिता दिया। सूरज का पिंड आकाश में लाल और बड़ा होता दिगंत के छोर तक पहुंच रहा था। कहते हैं कि बुझते दीपक का प्रकाश तेज होता है, उसी प्रकार डूबते सूरज का सौंदर्य भी अधिक होता है। इतने सारे वाद-प्रतिवाद, निंदा-प्रशंसा आदि अपने मित्र के बारे में सुने, परंतु मेरा परिचय उनसे जीवन के बिलकुल संध्याकाल में हुआ था। संध्याकाल के सूर्य की भांति वह मुझे पूर्ण मनुष्य के रूप में दिखलाई पड़े। उनका चेहरा, उनकी आकृति, उनकी चाल—सब कुछ मुझे सुंदर दिखा। उनकी मृत्यु के बाद भी उसी तरह मेरे सामने सच्चा सूरज डूबा, और भी काफी देर तक आकाश में उसकी लालिमा दिखाई पड़ती है, शाम की शांत सुषमा दिखाई पड़ती है। ऐसा लगा, जैसे यशवंतजी ने जो काम मुझे सौंपा था, जो रोजनामचा मेरे हिस्से में दिया था, वे सभी सुवर्ण प्रकाश हैं।

सूरज डूब गया। हमारा अनुभव है कि वह कल उगेगा। उसी से यह भावना मनुष्य के हृदय में आई होगी कि मर जाने के बाद आदमी दूसरी देह लेकर आता है। मृत्यु को न चाहनेवाले मन को ऐसी ही कल्पनाओं से पिरोना चाहिए न ! यह सूर्य कल भी आएगा, परसों भी आएगा, प्रतिदिन आएगा और हम? शरीर छोड़कर जानेवाले मानव-जीव, कहा जाता है कि, हम पुनर्जन्म में दूसरी काया लेकर आते हैं। यह 'सूर्य' लौट आए, तो हम पहचानते हैं कि कल आकर गया हुआ सूरज यही है। यदि मनुष्य का पुनर्जन्म हो तो क्या हम उसे पहचानेंगे? कभी नहीं। यद्यपि हम नहीं जान सके हैं कि हमने पहले कौन-सा अवतार लिया था और कौन-सा अवतार लेंगे, तथापि हम परमात्मा के जन्मों को पहचान चुके हैं। यह मनुष्य-भावना प्रपंच में परमात्मा के सभी अवतारों को पहचान रही है।

चिरंतन जीने की आशा से ही वह ऐसा करता होगा न?, इस तरह मेरे मन में सागर

की लहरों की भांति कई भावनाएं उमड़कर लुढ़कने लगीं। एक लहर दूसरी लहर की हस्ती मिटाकर स्वयं आगे शान से बढ़ती है, और वह भी कुछ ही मिनटों में समाप्त हो जाती है। हमारी निगाह में आती प्रत्येक लहर लुढ़कती है, फूलती है, टूटती है और मिटती है। किंतु ऐसा नहीं होता कि समुद्र में लहरें ही न रहें। एक-न-एक लहर रहती ही है। एक के पीछे एक आती ही रहती है। क्या हमारा जीवन भी इसी प्रकार नहीं होगा? देह के जाने पर व्यक्तिगत लहरों का रूप मिट भी जाए, तो भी लहरें गायब नहीं हुई हैं। वही समुद्र, वही पानी, वही हवा - उनसे जीवन-परंपरा सदा चलती रहती है। क्या इसी प्रकार नहीं रहा होगा पुनर्जन्म?

इस तरह एक स्वप्न को पिरोते समुद्र के तट पर जा खड़ा रहा। आकाश अपनी आभा खो चुका था। उसमें अनगिनत तारे झिलमिला रहे थे। कहते हैं कि आकाश के सभी तारे पुण्यात्मा-जीवी हैं। स्वर्ग में जाकर शान बढ़ानेवाले नक्षत्र हैं।

वहां भी मानव की आशा ने कल्पना के घोड़े दौड़ाए हैं। मरने पर भी उसकी आशा आकाश में चिरायु होकर रहने की है। कहते हैं कि ध्रुवतारा चिरंतन तारा है। मनुष्य की आयु की मर्यादा की तुलना करके देखें, तो पहाड़, चट्टान सभी चिरंतन ही हैं, नक्षत्रों की तो बात ही क्या ! मेरे मित्र यशवंतजी भी नक्षत्रों के परिवार के ही हैं... किंतु उनको ऐसी कोई आशा नहीं थी।

समुद्र से एक कोस चलकर कुमटा के बाजार में लौट आया। तब आठ बज चुके थे। मेरे मित्र भी अपने कुछ मित्रों के साथ टहलने के लिए निकले थे। उनके घर की बैठक खाली हो गई थी। उनके घर में रात का भोजन नौ या दस बजे होता था। तो क्यों यहां खंभे से पीठ टिकाकर बैठा जाए? अपने वकील मित्र से मिलकर आराम से बातचीत करके नहीं आया हूं—यह सोचकर उनके घर गया।

सौभाग्य से मुर्डेश्वर वकील घर में ही थे।

"क्यों जी? आप कल भी नहीं आए, आज भी नहीं दिखाई पड़े!" उन्होंने पूछा।

"अब आ गया न ! कहिए, अपने गांव का समाचार? प्रैक्टिस ठीक चल रही है न?"

"हां, मेरे लिए काफी है। मैं बहुत सारे दावे नहीं लेता। पुराने कतिपय मुवक्किलों को रख लिया है। सारा जीवन मेहनत में ही बीते, तो आदमी मौज कब करेगा, बताइए न!"

"अच्छा, तो अब आप में ऐसी लहर उठी है !" मैंने मजाक किया।

इसी तरह हमारी गप्पें कहीं से कहीं जा रही थीं। तब एकाएक उन्होंने पूछा, "हमारे सीताराम हेगड़े के घर जा गए थे न?"

"किसने बताया आपको? आपके गांव में दीवार के भी कान होते हैं क्या?"

"ऐसा कुछ नहीं। वह सीताराम ही मेरे पास आया था। मुझसे उसका अच्छा परिचय है।"

"बहुत समय से...?"

"अपने पिता के समय से ही। यह पिता की तरह नहीं है। यह तो बहुत कुछ परफेक्ट जेंटलमैन है।"

"होना ही चाहिए—कोई एक ऐसा आदमी।"

"आपके और सीताराम के बीच एक विवाद था न? परसों आपको देखने के बाद सोचा कि आप उसी के लिए आए होंगे। आपका आना अच्छा ही हुआ। ऐसा कुछ होने पर आपस में ही राजी-खुशी से निबटा लेना चाहिए, बिना...।"

"इसमें विवाद कोई नहीं है।"

"नहीं, उसने आपको एक रजिस्टर्ड नोटिस दिलाया था न?"

"नोटिस ! हां, दिलाया था। जब तक आप वकीलों की पीढ़ी है, तब तक इस प्रकार के नोटिसों की दौड़-धूप होती रहनी चाहिए न !"

"मैंने भी देखी थी उसकी नकल।"

"किसकी?"

"नोटिस की और यशवंत के लिखे पत्र की। आपको आया पत्र था, वसीयत नहीं। लिखा था न कि जब तक मैं न आऊं, तब तक वह रकम आपके पास ही रहे। राजी से ही उसका निर्णय करना अच्छा है।"

"कैसे? राजी से कैसे?"

"आपने जो थोड़ा-बहुत खर्च किया है, उसको मुजरा करके जो धन बच जाता है, उसे सीताराम को ही दे दीजिए। जो हो, इस मैल से हाथ धो लीजिए !"

"ऐसा !"

"मेरा कहना सही नहीं है?"

"वकीलों की दृष्टि से सही है।"

"फिर दूसरी दृष्टि कौन-सी है?"

"यशवंतरायजी की भी एक दृष्टि है—इसे मैं क्या भूल सकता हूं?"

"देखिए, वह तो एक शतमूर्ख (महामूर्ख) था। शुद्ध बेवकूफ। जब वह इस गांव में था, तब उसका संबंध मुझसे भी था न ! उसने प्रारंभ से ही गलत राह पकड़ी थी। यानी अपनी पत्नी और अपने बच्चों के प्रति किसी तरह की दया, करुणा नहीं दिखाई। बिलकुल रुखाई से बर्ताव करता था।"

"हो सकता है। उसी तरह वह चल भी बसे। कोई उन्हें सुधारकर अच्छा बनानेवाला नहीं था, तो अब हम और आप क्या सुधार सकते हैं?" मैंने कहा।

उन्होंने कहा, "सच है कि अब कुछ नहीं हो सकता, परंतु आप जैसे जानकार लोकानुभव रखनेवाले उसे मिलकर सुधार सकते हैं।"

"किसे?"

"उनके धन के बारे में मेरा कहना था।"

उनकी बातों से मैं ऊब गया। मुर्डेश्वर मेरे पुराने मित्र थे, तो भी स्पष्ट रूप से पता चल रहा था कि वह सीताराम का पक्ष लेकर बोल रहे थे। इसलिए मैंने कहा, "मिस्टर मुर्डेश्वर, कोई दूसरा विषय हो तो बात करें। आपके और हमारे बीच कोई विवाद नहीं होना चाहिए।"

फिर वह यद्यपि धन के बारे में कुछ भी नहीं बोले, तथापि मेरे मित्र के बारे में ऐसी बातें बोलने लगे, जो नहीं बोलनी चाहिए थीं। उनकी दृष्टि में कुमटा में 'परम नीच' उपाधि के लिए कोई योग्य व्यक्ति था तो वह यशवंतरायजी ही थे। वह मक्खीचूस, महामूर्ख, क्रूर हृदय और जाने क्या-क्या थे ! बदले में उनके घर वाले पत्नी-पुत्र, सभी देवता-परमात्मा थे !

यदि वह इस विषय में गंभीरता की मर्यादा रखकर बोलते तो मुझे दुख नहीं होता। परंतु वह उस मर्यादा का उल्लंघन कर गए। मैं भी तनिक उद्वेगी बन गया।

मैंने कहा, "स्वामी, मैं यशवंतरायजी के बारे में ज्यादा नहीं तो थोड़ा जानता ही हूं। पांच-छह सालों से तो उन्हें अच्छी तरह जानता हूं। वह देवता नहीं, तो आपके कथनानुसार राक्षस भी नहीं थे। एक योग्य मनुष्य थे—इतना तो मैं जानता हूं।"

"वह?"

"मुझसे और आपसे बहुत अच्छे, बहुत योग्य थे। बस, मेरे लिए इतना काफी है। अच्छा, जाता हूं।" कहकर दुखी मन से उनकी बैठक से नीचे उतर आया। उसके बाद उन्हें भी शायद लगा हो कि उनकी वकालत सीमा से बाहर हो गई।

उन्होंने कहा, "नहीं जी, इतने नाराज क्यों हो गए? इस तरह की बातों में दरियादिली चाहिए।"

"मृतक के बारे में बोलते समय नहीं सोचा गया और मुझ से दरियादिली की अपेक्षा है?"

"आई एम सारी !"

"जिनके प्रति अन्याय की बातें आपने की, उनसे क्षमा मांगिए।" कहकर मैं चला आया।

छिः! उस दिन एक के बाद एक विषम संयोग ही घटे, जो मेरे दिमाग को मानो चाटने के लिए इकट्ठे हो गए थे। एक घंटा समुद्र के किनारे बैठने से जो शांति मिली थी, वह भी विस्मृत-सी हो गई। वकील मुर्डेश्वर अन्य जाति के हैं। इस विषय को पक्षपात-रहित दृष्टि से देख सकते हैं, मेरे मित्र की थोड़ी-सी सही तसवीर मिलेगी. . . इस आशा से मैं मुर्डेश्वर के यहां गया था, परंतु इसका उलटा ही हुआ।

जिस समय मैं सभावंत के घर पहुंचा, रात के दस बज चुके थे। वह मेरी प्रतीक्षा में बैठे थे। उन्होंने मुझसे कहा, "क्यों जी, कहां गए थे?" उत्तर देने की मेरी इच्छा नहीं हुई।

"बहुत देर हो गई। पत्रावली बिछाई गई है; उठिए, भोजन के लिए। फिर भोजन के बाद बताइएगा।" कहकर मुझे उठाकर ले गए। मैं भोजन के लिए बैठ तो गया, पर खाने की इच्छा नहीं हो रही थी। अपने मित्र के लिए मुझे बड़ा दुख हो रहा था। मुझे अचानक संदेह हुआ कि कहीं मैं यशवंतरायजी के विषय में पक्षपाती तो नहीं हो गया हूं?

हमारे लोग, हमारे प्रिय लोग—यह मोह थोड़ा भी आ जाए, तो हमारा विवेक, समदर्शित्व और संतुलन, सब विस्मृत हो जाते हैं। वरना मेरा मन इतना उद्विग्न क्यों होता? सीताराम हेग्गड़े तथा मुर्डेश्वर के घरों में मैं क्यों अपनी सहनशीलता खो देता? इसके विपरीत होन्नगच्छे जब मैं गया था, तब मेरे मन में वात्सल्य, प्यार, स्नेह क्यों पैदा हो गए? मैं मनुष्य हूं, विविध भाव-रसों का चाकर हूं। अप्रिय बातें मुझे उद्विग्न करती हैं और प्रिय बातें मुझे संतुष्ट। निर्लिप्त जीव नहीं हूं मैं !

उस रात को खीर परोसी गई थी। उपचार की बातें मेरे कानों में पड़ीं, "खीर है वह, दो कलछी और लेकर अच्छी तरह भोजन कीजिए।" किंतु जब हाथ धोने गया, उस समय अगर वह पूछते कि खीर किसकी बनी थी तो बता नहीं पाता। इतना निर्लिप्त हो गया था मैं भोजन करते समय ! भोजन की रुचि भी भूल बैठा था। जीवन के बारे में इस तरह हुआ होता, तो खीर के समान ही वह भी होता ! रसोई बनाकर प्यार से परोसने वालों के लिए जैसे पत्थर-सा वन गया था, वैसे ही, मुझे स्नेहपाश से बांध देने वाले यशवंतजी के लिए भी पत्थर बन जाता। ऐसी निर्लिप्तता नहीं चाहिए। मनुष्य को मनुष्य ही बनकर रहना अच्छा है, पत्थर बनकर रहना भूषण नहीं है।

पद्मपत्र मिवांभसि !

कहते हैं कि पद्मपत्र पर स्थित जलबिंदु की भांति आदमी को किसी से नहीं लगे रहना चाहिए। आश्रय देने वालों से भी हमारा मन चिपका नहीं रहना चाहिए।

जलबिंदु वैसे रहेगा ! जल में जीव नहीं है। मैं नहीं जानता कि जीव वाला पद्मपत्र उस जल का स्नेह कैसे जान लेता है ! उसे जल नहीं चाहिए? यदि जीवधारी मनुष्य वैसा रहे तो 'जीव' के रहने का पता ही हमें न लगे। विचित्र उपमा !

हां, भोजन के बाद बैठक में आकर बैठ गया। तांबूल की तश्तरी सामने थी, सभावंत जी भी सामने बैठे थे, परंतु मेरा मन कहीं-कहीं उड़ जाता था। मुझे भावुकता गलत नहीं लगी, न लगेगी। उस पर विवेक का नियंत्रण रहना चाहिए, उद्वेग का काबू के बाहर जाना गलत है। इसीलिए सभावंतजी से मैंने कहा, "मालूम होता है कि आज मुझसे एक गलती हुई। आपको घर में न देखकर मैं वकील के यहां गया था।"

"मुर्डेश्वर वकील के घर?"

"हां, आपकी तरह उनसे बहुत दिनों पुराना परिचय था। उन पर अभिमान भी था, आज वह चकनाचूर हो गया।"

"यानी?"

मैंने सारी बातें उन्हें संक्षेप में सुनाईं, "शाम को हेग्गड़ेजी के ही घर में दिमाग ठिकाने नहीं था। सोचकर गया कि इनके यहां जाने पर मन कुछ शांत होगा, तो वह जले पर नमक छिड़का जाने सरीखा हुआ।"

"वह और यह बड़े दोस्त हैं।...हमारे सीताराम के घर वाले और वकील भी।"

"यह मैं नहीं जानता था।"

"फिर क्या हुआ वहां?"

जो कुछ बातें वहां हुई थीं, मैंने सब बता दीं। अपने मित्र के बारे में अनुचित बातें बोलने पर, उसे भी सुना दिया। फिर कहा, "नहीं, मित्रों से ऐसी उद्रेक की बातें मुझे नहीं करनी थीं।"

"आपने कहा कि मरे हुए के बारे में, आपके प्रिय व्यक्ति के बारे में वह कैसे बोले?"

"मैं नहीं जानता था कि इस तरह पक्ष लेकर बोलेंगे।"

"मैं आपको एक बात बताऊं?"

"क्या?"

"हमारे मुर्डेश्वर वकील जैसे दिखाई पड़ते हैं, वैसे नहीं हैं। ऐसा नहीं कि हम उनकी कहानी नहीं जानते। उस स्त्री से उसका संबंध बहुत दिनों से चला आ रहा है।"

"सच?"

"बिलकुल। आप यह न समझें कि सिर्फ जीभ की सुरसुरी मिटाने के लिए इस तरह की शिकायत कर रहा हूं।"

मैं स्तंभित होकर बैठा रहा। थोड़ी देर बाद बोला, "सभावंतजी, आज चांदनी रात है। यदि मैं सोऊं तो भी नींद नहीं आनेवाली। चलिए, कहीं घूमने चलें।"

"मैं रात को कभी घूमने के लिए नहीं गया...।"

"अकेले जाने में मन नहीं लगता होगा। कोई भय तो नहीं है।"

"कहां चलें?"

"और कहां ! हाईस्कूल के टीले पर... ।"

ग्यारह

कुमटा का मेरा काम पूरा हो गया और एक दिन होन्नगछे में मंजय्या के यहां जाकर, उनसे सुख-दुख के बारे में पूछ-ताछ करके, अपने मन की पीड़ा खोकर लौट आया। उन्हें मालूम नहीं था कि धारेश्वर शीन या उसकी मां का घर कहां है। उस शीन की एक बहन भी

है, मंजय्या से बात के सिलसिले में मालूम हुआ कि वह कहीं शिक्षिका है। अब की बार उनके घर से लौटते समय, यशवंत, जयवंत ही नहीं बल्कि छोटा लड़का भगवंत भी मेरे गले लगकर और मुझे खींचकर कहने लगा, "फिर एक बार आइएगा—जरूर आइएगा।" मंजय्या की पत्नी ने अपना कुतूहल दिखाया, "मेरी मां के घर हो आए न? सभी सकुशल तो हैं?"

वहां से आगे के कार्यक्रम पर विचार करते हुए सभावंतजी के घर तक पैदल आया। रास्ते में मुझे अपने अविवेक का चित्र दिखाई दिया। मेरे मित्र ने जो रकम सौंप दी है, उसमें से मासाशन के लिए जितने रुपये भेजे जाएं, वे तो सूद में मिले रुपयों से जाने चाहिए न! मूलधन में से जितना बेनकय्या के मंदिर के लिए खर्च हुआ था, उतना निकालकर दे दिया गया। अब मंजय्या के पुत्रों की पढ़ाई और सहायता करने के लिए मान गया हूं। यदि यह सब ऐसा ही चले तो कितने समय तक मेरे मित्र का धन पर्याप्त होगा? मूलधन से ही खर्च करता जाऊं, तो कितने दिन इन सबको सहायता पहुंचा सकूंगा? ये सारी बातें मन में आईं। इसी चिंतन में मैं सभावंतजी के घर पहुंचा।

उस घर के लोगों में सरसी और उसके बच्चों के बारे में प्रश्न किया जा सकता है? उन्हें कुछ मालूम रहा होगा क्या?

कुमटा तक आने पर अगर वह एक बात मालूम हो जाए तो इसका पता चले कि मेरे ऊपर कितनी जिम्मेदारी है। इसके अलावा, धारेश्वर शीन ने जो लिखा है, उसके अनुसार उसकी मां स्वस्थ नहीं होगी। यशवंतजी के हिसाब की पुस्तक तथा रसीदें देखने से लगता है कि उसे कुछ भी नहीं मिला है। उनके और यशवंत के संबंधों को याद करने से ज्ञात होता है कि दोनों के बीच कभी विरसता नहीं आई। दोनों का संबंध टूटना जब अनिवार्य-सा लगा, तब मेरे मित्र के दस-बारह वर्ष के बंबई-प्रवास के दौरान उन दोनों में कोई लिखा-पढ़ी हुई थी क्या? क्या अंतिम समय में उसके साथ का अपना स्नेह-संबंध याद करके, उस ऋण को चुकाने के लिए उन्होंने इस मासाशन का निर्देश दिया? फिर उसका पता क्यों नहीं दिया? शायद उन्होंने अपने पूर्व-संबंध का चित्र नहीं देना चाहा होगा। यह भय स्वाभाविक है, अतः उन्होंने सरसी के पत्र का पता दिया। ये बातें मैंने अपने-आप ही सोचीं।

बाकी बातों के लिए मुझे सभावंतजी से ही पूछना पड़ा। उन्होंने गर्दन ऊपर उठाकर कुछ सोचा। फिर कुछ देर बाद कहा, "देखिए, उसका लड़का शीन जीवित है। उसकी एक बेटी जरूर होगी। वह तो यहीं कहीं होगी। शिक्षिका की वृत्ति करते हुए सिद्धपुर के किसी कोने में निश्चिंततापूर्वक विवाहित जीवन बिता रही है। सरसी के दूर के कोई रिश्तेदार इस कुमटा में ही रहते हैं। आज तो आप यहां हैं न? शाम तक पूछताछ करके बताऊंगा।"

उस दोपहर के भोजन के बाद मुझे काफी फुर्सत थी। कोई काम ही नहीं था। काफी देर तक तकिये के बल लेटकर घर के मालिक की तरह खूब सोया। उस नींद में न जाने

क्या-क्या सपने आए ! यशवंतजी और सरसी के स्नेह-संबंध का चित्र मेरी कल्पना के आकाश में तिरने लगा। कमलम्मा से एकदम उलटा स्वरूप था उसका। रूप से उतनी सुंदरी नहीं थी। संगीत का अच्छा अध्ययन किया था। कुल की वृत्ति के विरुद्ध वह कुलीन शील-गुण वाली थी। है तो स्वप्न ही न! अपने मित्र के प्रति मेरा जो पक्षपातपूर्ण रुख था, उसने ही सपने में ऐसा चित्र दिखाया होगा। उस चित्र में एक विकृत प्रसंग भी दिखाई पड़ा। मैंने देखा कि मुर्डेश्वर वकील एक दिन सरसी के यहां उस समय गए, जब मेरे मित्र वहां नहीं थे। सरसी ने पूछा, "आपका यहां क्या काम?" उन्होंने कहा, "यह देखने के लिए आया था कि यशवंत हेग्गड़ेजी यहां हैं या नहीं?" सरसी ने उत्तर दिया, "उनको उन्हीं के घर में देख सकते हैं।" फिर भी उन्हें वहीं खड़े देखकर सरसी ने क्रोध से अपने दरवाजे बंद कर लिए। वह कहानी आगे बढ़ती भी कैसे ! मेरे पास ही सोए सभावंतजी ने कहा, "महोदय, कॉफी का समय हो गया है।"

मैं उठा। हाथ-मुंह धोकर जलपान करके मेरे मित्र अपने काम पर चले गए और मैं विहार के लिए निकल पड़ा।

बहुत दूर तक चलने की इच्छा नहीं थी। मन तो बिलकुल मुग्ध हो गया था। सोचा कि यहीं पास के बंदरगाह पर जाकर बैठूं, फिर धीरे-धीरे चलते हुए बंदरगाह की सड़क पर चला आया। नमकीन पानी के सागर में भाटा आ गया था। आठ-दस नावें कीचड़ में धंस गई थीं। नावों के चलने के लिए समुद्र की खाड़ी में पर्याप्त पानी नहीं था। घुटने तक पानी में मछुओं के बच्चे छोटे-छोटे जाल हाथ में लेकर मछलियां पकड़ रहे थे। जाल में फंसी छोटी-छोटी मछलियां हाथ डालने पर उछलकर, अपने को बचाने का प्रयत्न कर रही थीं—वह दिन उनकी आयु का अंतिम दिन था। उछलकर गिरीं, पर फिर मछुओं के ही हाथ लगीं। वे उनके नथुनों में नारियल की तीलियां चुभोकर उनकी मालाएं बनाते थे। कुछ अधमरी-भी रहती थीं। माला में ही उनका फड़फड़ाना, छटपटाना दिखाई पड़ता था। उसी को कुतूहल से देखता हुआ मैं द्रवित हो गया। अपना मुंह फेर लिया। सोचा, मरने पर तो उनका छटपटाना बंद ही हो जाएगा।

मुझे और क्या काम था? खाड़ी को देखना, रास्ते में जानेवाले लोगों और गाड़ियों को देखना। एक मछुए का लड़का आकर नदी के तट पर बैठ गया। कमर में बंधी थैली में हाथ डाला, उसमें से एक कीड़ा निकालकर बंसी में फंसाया और पानी में फेंककर तप करने लगा। मेरा भी तप, उसका भी तप। उसके तप के फलस्वरूप आठ-दस मछलियां मिल गईं। एक तो छह इंच लंबी थी। और मेरे तप का फल? मन को एक-न-एक विचार सूझता और क्षण-दो क्षण ठहरकर, निशान बनाकर चला जाता। वे सब विचार मेरे मित्र के पूर्व-इतिहास से संबद्ध घटनाएं थीं, जो मुझसे अपरिचित तो थीं, पर मेरी ही कल्पित थीं। क्या मेरे ध्यान की बंसी में कोई भी मछली नहीं फंसी? मैं कितनी देर तक उसी तरह बैठा

रहा, मालूम नहीं। परंतु सांझ का घिर आना, प्रकाश का कम हो जाना मालूम हो गया। उसी प्रकार बुद्धू की तरह खड़ा रहा और फिर सभावंतजी के घर की तरफ चल पड़ा। मार्ग में सीताराम हेग्गड़े को किसी दोस्त के साथ अपने सामने से ही जाते हुए देखा। वह स्वयं मुझसे नहीं बोले। मैं भी उनसे बोलने की स्थिति में नहीं था। मित्र के घर जाकर आरामकुर्सी पर बैठ गया और नींद आ गई।

नींद खुली, तब आठ बज चुके थे। मेरे पास सभावंतजी पान-सुपारी खाते हुए बैठे थे, फिर भी उन्होंने मुझे नहीं जगाया। मेरी नींद टूटने पर पूछा, "यह क्या, आज आपको नींद पर नींद क्यों? दुपहर को खूब सोये। बहुत थक गए हैं क्या?"

उनकी बात को मेरे दिमाग तक पहुंचने में ही एक-दो क्षण लग गए।

''हां, खूब नींद आ रही है। कल रात-भर तो मैं करीब-करीब जगा ही रहा। ऐसी बात भी नहीं कि नींद नहीं आई हो। एक विलक्षण-सी बात हो गई थी।''

"आप भी भले आदमी ठहरे। उस मुर्डेश्वर वकील ने या इस सीताराम की मां ने आपके मित्र के बारे में कुछ उलटा-सीधा कह दिया, तो उन सारी बातों से मन की शांति बिगाड़ लेनी चाहिए क्या? नहीं, बिलकुल नहीं। अरे भई, अगर कुत्ता भूंका तो देवलोक उजड़ जाएगा क्या? ये लोग कुछ भी कहें, मैं तो कहता हूं कि यशवंत हेग्गड़ेजी सुवर्ण-सरीखे आदमी थे। उनके और मेरे बीच कोई घनिष्ठ संबंध या व्यवहार नहीं था, तो भी उनके बारे में मेरी जानकारी है और उन्हें देख चुका हूं।" उन्होंने मेरे मन की व्यथा दूर करने का प्रयास किया।

मैंने प्रश्न किया, "क्या आप उनके बारे में पूछताछ करके आए?"

"हां, पूछ लिया। अब आप सीधे अपने गांव जा सकते हैं। सिद्धपुर-गिद्धपुर जाने की तकलीफ उठाने की जरूरत भी नहीं है। कहते हैं, उस सरसी को मरे दो-तीन वर्ष हो गए। उसका बेटा शीन सिद्धपुर के पास के कोडकणी ग्राम में है। यहां दो-तीन कोडकणी हैं। वह सिद्धपुर के कोडकणी में रहता है।"

"सच?" मैंने चकित होकर कहा। इतनी सारी बातें जान लेने के बाद उसके बारे में जानने का आग्रह हुआ।

"अब वह नहीं है, लेकिन उसका लड़का है। उसकी लड़की भी है। इधर उसका साणेकट्टा में तबादला हो गया है। पति-पत्नी एक ही गांव में शिक्षक-वृत्ति में लगे हैं। यदि आपको ज्यादा कुतूहल हो तो साणेकट्टा जाइए, गोकर्ण के पास है। गोकर्ण से दो ही मील का फासला है। वहां तक जाने के लिए बस भी मिल जाएगी। यदि आप चाहें तो मिर्जान तरन से नाव में बैठकर भी साणेकट्टा जा सकते हैं। उनकी बेटी और दामाद से मिल आइए।"

"हां, ऐसा किया जा सकता है क्या?"

"सचमुच जाएंगे? आप भी सनकी हैं।"

"सरसी की बेटी मेरे मित्र की बेटी है न? मेरा कहना आप समझ गए? 'सरस' शब्द

का विलोम है 'विरस'। दांपत्य शास्त्रोक्त ही होना चाहिए, ऐसी कोई बात नहीं है न। शास्त्रोक्त दांपत्य का एक फल तो आपने देख ही लिया। फिर मुझे यह भी जानने की इच्छा है कि मेरे मित्र का गांधर्व दांपत्य कैसा रहा?"

"अच्छा-बुरा—दोनों है। मंगलसूत्र बंध गया, नहीं बंध गया, मात्र इसी से पति-पत्नी का ऐक्य सिद्ध नहीं होता। इसके अलावा यह भी नहीं कह सकते कि अच्छों की संतान अच्छी और बुरों की बुरी होती है।"

"सो तो है ही।"

"तो आप जाएंगे?"

"साणेकट्टा हो आता हूं।"

"वहां जाएंगे तो भोजन? रात के पहले लौट सकते हैं। दोपहर को लंघन। कल सबेरे अगर जाएं तो..."

"एक जून खाना न मिले तो क्या अंतर पड़ेगा?"

"धारेश्वर शीन को देखने के लिए जाने की आवश्यकता नहीं। वह रहता भी बहुत दूर है।"

"इस बारे में मैंने अभी तक निर्णय नहीं किया है। मेरा अनुमान है कि उसने मुझे कुछ धोखा दिया है।" कहकर उसके बारे में संक्षेप में सुनाया। 'मां ने कहा है, बड़ा उपकार हुआ। दो दिन भोजन छोड़ा।' इस प्रकार का उसका पत्र मिला। एक तो, उसकी मां का मरना ही झूठ है या उसने उस सत्य को छिपा रखा था। दूसरी जगह भी इसी तरह मुझे धोखा हुआ था, उसे किसी तरह सुधार दिया। इसलिए शीन जहां रहता है, वहां जाने को मन नहीं होता। अतः उनकी लड़की के यहां हो आऊं। आपने बताया न, वह साणेकट्टा में रहती है।"

"हां, कहते हैं कि वहां के स्कूल में है। स्कूल भी सड़क से लगा हुआ है। छोटा-सा स्कूल है।"

दूसरे दिन सवेरे उठकर हाथ-मुंह धोया। फिर कुमटा से गोकर्ण जाने वाली पहली बस पकड़ी। बहुत लंबी यात्रा नहीं थी। सवेरे का समय था, धूप भी तेज नहीं थी। रास्ते के दोनों तरफ पेड़-पौधे, पहाड़ी प्रदेश। आगे नदी पार करने का स्थान मिला। इसके आगे के रास्ते ने मन को तृप्ति दी। मेरे मन में पिछले दो दिनों से जो व्यथा, जो कसक थी, वह अपने आप गायब हो गई। नाव से नदी पार करने में देर न लगती, तो मैं नौ बजने के पहले ही साणेकट्टा में होता। आखिर साढ़े नौ बजे के करीब सड़क से लगे स्कूल के सामने ही बस रुकवाकर उतर गया। स्कूल का दरवाजा अभी तक बंद था। यह क्या? इतनी देर होने पर भी स्कूल नहीं खुला है ! बच्चों को तो आना चाहिए—सोचता हुआ चबूतरे पर बैठ गया। आधा घंटा बीत गया है। मैं जिन्हें देखने के लिए आया था, वह चंद्रमती या विद्यार्थी, कोई नहीं आए, उनके आने का लक्षण भी नहीं दिख रहा था। आज

स्कूल की छुट्टी तो नहीं? —सोचता रहा तभी खयाल आया कि आज तो इतवार है—छुट्टी का दिन। अफसोस हुआ कि पास के लोगों से उस दंपति का पता पूछे बिना इतना समय गंवा दिया। वहां से बाहर आया। सौ गज की दूरी पर एक-दो घर दिखाई पड़े। चंद्रमती शिक्षिका का घर कौन-सा है?—पूछना ही चाहता था कि मन में एक संदेह पैदा हुआ। सभावंत जी ने जो नाम बताया है, वह चंद्रमती है या इंदुमती? मैं दुविधा में पड़ गया। उसी दुविधा में आगे चलकर जो घर सबसे पहले मिला, उसी के सामने खड़ा हो गया। घर में से किसी के आने की प्रतीक्षा करता रहा, पर दरवाजा नहीं खुला, कोई बाहर नहीं आया। मैंने जोर से आवाज दी, "इस स्कूल के मास्टरजी कहां रहते हैं?" एक औरत बाहर आई और बोली, "मास्टरजी सवेरे ही गोकर्ण गए।"

मन पर एक और आघात पहुंचा। वह वहीं खड़ी थी। इसमें संदेह नहीं रहा कि यह मास्टरजी का घर है। मैंने कहा, "मुझे मास्टरजी से नहीं मिलना था। इस स्कूल में एक शिक्षिका काम करती हैं।" वह मानो संशय से बोली नहीं। मैं उसे देख रहा था, उसने भी मुझे देखा।

"आप किस तरफ के हैं? किसे चाहते हैं?" उसने आश्चर्य से पूछा।

उसका चेहरा देखते हुए मैंने उत्तर दिया, "अम्मा, मैं उनका नाम भूल गया हूं। चंद्रमती या इंदुमती है। मैं दूसरे गांव का हूं। एक काम के सिलसिले में उन्हें ढूंढ़ रहा हूं। इस स्कूल में दो अध्यापिकाएं हैं या एक ही हैं?" वह हंसी। उस हंसी की झलक में ही झट होन्नगछे जलजाक्षी की छाया उभरी-सी दिखाई दी।

उसने फिर प्रश्न किया, "आपका गांव? नाम?" मैंने दोनों बता दिए। दोनों बातों से पूर्व-परिचित होने के अंदाज में उसने कहा, "आइये, यही है वह घर।" मैं आश्चर्यचकित दो कदम आगे बढ़ गया। उसने कहा, "आइए, आपका नाम सुन चुकी हूं। आपकी किताबें भी पढ़ी हैं।" मुझे काफी तसल्ली हुई। सीढ़ियों पर चढ़ते हुए बैठक में दाखिल हुआ। उसने एक बेंच दिखाकर कहा, "बैठिए। मैं चंद्रमती नहीं हूं। मेरा नाम इंदुमती है। मैं ही शिक्षिका हूं। मेरे यजमान भी यहीं शिक्षक हैं। आप उनसे मिलने के लिए आए हैं?"

"नहीं, आपसे।"

"मुझसे?"

"हां अम्मा, आप मेरे मित्र की पुत्री हैं, इसलिए आया। दूसरा कोई काम नहीं था। केवल इसी कारण से आपका बड़ा भाई शीन मुझे पत्र लिखता रहा। मैं कुमटा आया था। सभावंतजी ने किसी से पूछताछ करके बताया कि आप यहां रहती हैं। फिर मिलने की इच्छा से चला आया।"

"शीनण्णा से परिचय है?"

"सीधा परिचय नहीं है, पत्र के माध्यम से परिचय है। प्रत्यक्ष नहीं देखा है। आपके

पिताजी से खूब परिचित हूं।"

उसने अपना मुंह नीचा कर लिया। दो क्षण मौन रही।

"आप तनिक भी संकोच न करे। मैं यशवंतरायजी के परम मित्रों में से हूं।"

उसने झुककर जमीन से दो फुट ऊंचा अपना हाथ उठाया, "मैं इतनी बड़ी थी, जब हमारे पिता हमें छोड़कर गए।"

"उस बारे में थोड़ा सुन चुका हूं।"

"कहते हैं कि बंबई में कहीं रहते हैं !"

"अब नहीं हैं, उनको गुजरे एक वर्ष हो गया।"

"क्या? मर गए? हमारी मां उन्हीं की याद करते-करते दो साल पहले ही मर गई। अब वह भी गए?"

वह बहुत देर तक नहीं बोली, मैं भी खामोश रहा।

"बड़ा भाई सिद्धपुर के समीप कोडकणी में है। पहले मैं भी वहीं थी, मां भी वहीं थी। उसे कुमटा की याद ही सताती रही, इसलिए हम सबको लेकर वहां गई। अंतिम दिनों में हम बड़े कष्ट में थे। जब बिलकुल कंगाल हो गए, तब मेरी मां ने किसी तरह उनका पता लगाकर मेरे बड़े भाई से बंबई के पते पर एक पत्र लिखवाया। तुरंत उन्होंने सौ रुपये भेज दिए। वह पैसे मां के अंतिम समय में काम आए। 'आखिर वह हमें भूले नहीं हैं।'...कहकर मां ने शांति से प्राण त्यागे। उसके बाद मैं यह समाचार देते हुए पत्र लिखना चाहती थी, पर लिख नहीं सकी। रोज सोचती रही कि आज या कल लिखूंगी। फिर सब विस्मृत हो गया। भूलना नहीं चाहिए था, पर भूल गई। अब देखिए, परमात्मा ने हमारी गाड़ी चलाई है। मैं और मेरे पति दोनों शिक्षक का काम करते हुए यहां सुखपूर्वक हैं। बड़ा भाई भी ठीक ही है। गांव के लोगों के घर में संगीत, तबला आदि सिखाते हुए अच्छी गृहस्थी बसा ली है।"

इतना कहकर वह घर के अंदर गई। फिर थोड़ा चिउडा, पकाई हुई मूंग के दाने और एक गिलास में शरबत ले आई और मेरे सामने रखकर, मैं जिस बेंच पर बैठा था उसके दूसरे छोर पर वह भी बैठ गई और अपने पिताजी के बारे में अनेक प्रश्न करती रही। सहज दांपत्य से उत्पन्न बच्चों की तुलना में अधिक उत्सुकता से उसने पूछा, इसलिए मुझे भी जितनी जानकारी थी, मैं बताता गया। उसने कहा, "यह चूंकि आप थे, इसलिए इतने गौरव से आपने बातें कीं। हमारा कुल कैसा है, देखिए! जब आपने कहा, 'तुम्हारे पिता', तब मैं सोच रही थी कि यह कौन है मेरी हंसी उड़ानेवाला ! मेरी मां एक पाणिग्रहीता से बढ़कर उन पर विश्वास रखती थी, पर दुनिया में उसकी कीमत है क्या? लोग 'रंडी' कहते थे। मैं तब छोटी थी। अब भी अधिक जानकार की तरह नहीं बोलती। हमारे लिए वह प्राण थे। हमारी मां उनको पूजती थी। कोई दूसरी होती तो चाहे वह छोड़कर चले जाते तो भी

उनकी सारी संपत्ति लूटकर रास्ता नापती और अपना भावी जीवन सुखमय बना लेती। मेरी मां ने ऐसा नहीं किया। बहुत मान-सम्मान से रहती थी। उनके गांव छोड़कर चले जाने के कई वर्षों बाद मेरी मां ने मुझसे एक बात कही थी। तब मुझे कुछ समझ आ गई थी। वह झूठ बोलनेवाली नहीं थी। पिताजी को अपने संसार से घृणा हो गई थी, कुमटा छोड़ने का निश्चय करने के उपरांत पिताजी हमारे घर आकर रोये थे। उन्होंने कहा था, 'सरसी, मैंने आज तक तुम्हें कुछ खास नहीं दिया है और न तुम्हारे लिए कुछ किया है। फिर भी अग्नि-साक्षी देकर सप्तपदी करके आनेवाली पाणिग्रहीता से भी अधिक विश्वास से मेरे साथ रहती आई हो। अब मेरे बनवास का प्रसंग आया है। मैं नहीं जानता कि मैं कहां जा रहा हूं। तुम्हें जो कुछ चाहिए, कहो। धन चाहती हो तो धन दूंगा। घर चाहती हो तो घर बनवा दूंगा। तुम्हारे ऋण में मुझे नहीं पड़ना चाहिए न!'

"ऐसी बड़प्पन की बातें कितने लोगों के मुंह से निकलेंगी? मेरी मां को भी उनके भोगे कष्टों की जानकारी थी। रुपये-पैसे से हिसाब करके जीनेवाली वह नहीं थी। इसीलिए उसने यही उनसे कहा था, 'आपका विश्वास बना रहे, यही मेरे लिए काफी है।' उन्हीं की कही हुई बात है यह। इसलिए इसको मैं सच मानती हूं। उस पर मेरा विश्वास भी है। मेरी मां को ऐसा लगा कि सब हमें देकर, अकेले जाकर कहां, क्या करके रहेंगे? कहा जाता है कि उन्हें सबसे ज्यादा जीवन ही भारी लग रहा था, इसलिए वह आत्महत्या कर लेने की स्थिति में थे। यह भी मां ने ही सुनाया था।"

फिर इंदुमती अपने माता-पिता की याद करके रोने लगी। मुझसे भी बोला नहीं गया। लोक-रूढ़ि के अनुसार मैंने उसे कुछ धीरज बंधाने की बातें कहीं। तो भी वे शुष्क बातें कसकती स्मृतियों को मिटा सकेंगी? मेरी इच्छा नहीं हुई कि उसे बताऊं कि तुम्हारे बड़े भाई ने मां के जीवित रहने की बात लिखी है। नाहक उसे दुख होगा। फिर मैंने उसके काम के बारे में, पति के बारे में, कुशलता के बारे में पूछा। झट उसने कहा, "हां, आपने बताया न कि हमारे पिताजी आपके मित्र हैं, पांच-छह वर्षों की आपकी मित्रता है ! उनकी एक तसवीर आप दे सकेंगे?"

"एक है। उसकी प्रति बनवाकर भेज दूंगा।"

"सचमुच?"

"हां सचमुच ! तुम्हारी मां की तसवीर है?" मैंने पूछा।

"एक तसवीर थी कोडकणी में। बहुत पुरानी तसवीर। साफ नहीं है। कभी गांव जाऊंगी तो लाऊंगी।"

"लाओ तो, मेरे पास भेज देना। उसके आधार पर एक अच्छे चित्रकार से बड़ी तसवीर बनवा सकते हैं। फोटो देखे बिना अभी कुछ नहीं कह सकता कि उससे क्या करवाया जा सकता है।"

"हां, वह तो कुछ अस्पष्ट चित्र है।"

"अच्छा, मेरा काम पूरा हो गया। कितने बजे बस आती है?"

"बस के लिए क्या अकाल? बार-बार आती है, जाती है। आप अभी नहीं जा सकते। मेरे वो अभी आ जाते हैं। आपको उनसे मिलना चाहिए। उन्होंने भी आपकी पुस्तकें पढ़ी हैं।"

"पुस्तकें लिखने से ही यह फजीहत हो गई न !"

"आप धारवाड़ की भाषा बोलते हैं।"

"मेरे लिए धारवाड़, कुमटा, मंगलूर सब एक हैं।" कह ही रहा था कि एक बस आकर सड़क पर रुकी। उसके रुकने की आवाज सुनते ही इंदुमती हर्ष से बोली, "लग रहा है कि ये आ गए।" और पांच मिनट में मास्टर की सवारी भी आई। इंदुमती बैठक की सीढ़ियों से उतरकर पिछवाड़े के दरवाजे के पास दौड़कर गई, और पति के दोनों कंधों पर हाथ रखकर मेरी तरफ दिखाया। वह भी उत्साह से घर की भी सीढ़ियां चढ़ते आए और मुझे नमस्कार किया। इंदुमती ने इस बीच परिचय दे दिया था। मुझसे वह बातचीत करने लगा, मानो मैं पूर्व-परिचित हूं।

उस दिन दोपहर में वहीं भोजन किया। उसके बाद भी उस दंपति ने मुझे वहां से उठने नहीं दिया। मेरे गांव के बारे में पूछा, मेरे बारे में पूछा। शाम को दोनों मुझे साणेकट्टा के लवणागार ले गए। बड़ी-बड़ी क्यारियों में नमकीन पानी का संग्रह करके, उसे सुखाकर नमक बनाना उस स्थान की एक विशेषता है। नमक के ढेर शबनम की सफेदी लिए चमक रहे थे। शाम तक आराम से गप्पें मारते रहे। सूर्यास्त होने के बाद ही घर लौटे।

इंदुमती और अपने मित्र की पुत्री जलजाक्षी के स्वभाव-गुण में मैंने विशेष साम्य देखा। चेहरे में भी साम्य था। इंदुमती का रंग जलजाक्षी की अपेक्षा कुछ सांवला था। लेकिन चलने और बोलने की रीत उतनी ही सुलच्छन थी। अंतर केवल इतना था कि जलजाक्षी ने तीन बच्चों को जन्म दिया था, संसार में काफी कष्ट झेल चुकी थी। पर इंदुमती दांपत्य की ड्योढ़ी पर खड़ी है। बचपन का राहुकाल बीत गया है, यौवन का शुभोदय हो चुका है। उसका पाणिग्रहण करने वाला सदानंद उसके अनुकूल सहचर दिखता है। वक्रताहीन सरलता दोनों में है।

दूसरे दिन सवेरे मैं साणेकट्टा से बस में चला। दोनों ने साथ-साथ मुझे विदा दी। चलते समय इंदुमती ने याद दिलाई, "फोटो का स्मरण है न?" कुमटा आकर जो चार दिन मैंने बिताए थे, उनमें जो-जो काम किया, दुख भोगा, सुख पाया, सब मन के तराजू में तौलता गया। उस हिसाब से कहना होगा कि मैंने लाभ ही पाया। संसार में दुख की दस घड़ियां और सुख की एक घड़ी बराबर है न! सैकड़ों आंसू की बूंदों के बदले में एक हंसी है। हजार अशांत क्षणों के बदले में चार-पांच शांत प्रसंग हैं। जब बात ऐसी है, तो मेरे इस प्रवास

से विशेष लाभ नहीं हुआ क्या?

शायद इसीलिए कुमटा लौटकर, सभावंतजी से विदा लेकर दूसरे दिन सवेरे मोटर से जब अपने गांव के लिए प्रस्थान किया, तो रास्ते में मुझे किसी प्रकार की उदासी नहीं थी। आते समय हुई बस की थकावट, गरमी की उमस, लौटते समय नहीं महसूस हुई। कुमटा से कुंदापुर पहुंचा। उसके बाद यहां-वहां घूमता-फिरता, सभी परेशानियों को भूलता हुआ-सा अपने गांव पहुंचा।

घर पहुंचने के बाद तो मेरे मन में इतना उत्साह भर गया था, मानो मैं दिग्विजय करके लौटा हूं। अब तो मैं अपने मित्र यशवंतजी का पूर्ण चित्र कल्पित करके दे सकूंगा। कल्पना में आ सकने वाले दोष भी उसमें होंगे, परंतु वह कल्पना निराधार नहीं है, एकांगी चित्र भी नहीं है। सिक्के के दोनों पहलू मैंने देखे हैं। चलन में आया हुआ, रुका हुआ सिक्का, उसमें भी हज़ारों हाथों में रगड़कर, घिसकर, अक्षरों को खोकर चिकना कांतिहीन बना हुआ सिक्का। अतीत का जीवन, सभी उसी प्रकार का। किंतु यह सिक्का है कैसा? पहचान सकने की योग्यता मुझे प्राप्त है। किस धातु का है? किस काल का है? किसने मुहर लगाई? उसका मूल्य कितना है? चलन बंद हो जाने पर उसका बचनेवाला मूल्य कितना है?—यह कहा जा सकता है न !

मेरा यह सिक्का खोटा नहीं है। अतिरिक्त सिक्कों की भांति मात्र सांकेतिक सिक्का भी नहीं है। कागज का नोट है न ! एक रुपया, दस रुपया जैसा नोट—तात्कालिक स्वीकृत मूल्य के। लेकिन वह माननेवालों के लिए है, औरों के लिए उसमें कागज का मूल्य भी नहीं है। बिल्कुल लोहे का भी नहीं है। निकेल के साथ न जाने क्या-क्या मिलाकर, गलाने पर किसी के काम न आनेवाले लोहे से बनाया हुआ सिक्का भी नहीं है। वह पुराने जमाने का खुरदरे तांबे का पैसा भी नहीं है। उधर, शुद्ध पुत्थली भी नहीं है। थोड़ा ताम्र-मिश्रित सोने का सिक्का वह हो—यह मेरी कल्पना है। मैं सुनार की तरह धैर्य से कह सकता हूं कि इस सिक्के में इतने तौल का सोना होगा। इसे एक और कसौटी पर कसकर देखना चाहिए।

मेरी कसौटी है यशवंतजी का लिखा संस्मरण-ग्रंथ। निर्वचना से लिखा हुआ होने के कारण वह कसौटी बन सकता है। एक और कसौटी है—पूना के विष्णुपंत घाटे। वह उस स्थान के योग्य हैं या नहीं—उन्हें देखने के पहले नहीं कह सकता या मुझे इतनी फ़ुरसत भी नहीं रही कि मैं दो-चार दिनों में पूना जाकर उसका निर्णय कर सकूं। तब तक उनकी डायरी के पन्ने पलटने के सिवा कोई चारा नहीं।

सरसी के बारे में मेरे मित्र ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में क्या चार बातें नहीं लिखी होंगी? प्रिय संस्मरण क्या भूले जा सकते हैं? मैं सोचने लगा। मैं बार-बार उसे देखा करता था, अतः मुझे लगा था कि उन्होंने शायद कुछ भी नहीं लिखा होगा। फिर भी कुतूहलवश

उसको खोलकर अथ से इति तक पढ़ चुका। अंतिम पृष्ठ तक भी गया। बिलकुल अंतिम पृष्ठों में 'शिरसि के अपने घर में' जब पढ़ा तो विभोर हो गया। शिरसि ग्राम है न ! स्वादी के समीप का ग्राम। उसी भाव से पहले उस पृष्ठ को उलट दिया था। तब मुझे उस सत्य की कल्पना नहीं थी। 'शिरसि' को 'सरसी' की भावना से उसे फिर पढ़ने पर मुझे आश्चर्य हुआ।

अंतिम पृष्ठ को डायरी के गत्ते से चिपका दिया था। उसको धीरे से उखाड़कर देखा तो वही विषय आगे बढ़ा हुआ था। जान-बूझकर उन्होंने उसे छिपाकर रखा था—जैसे अपने जीवन में उस (सरसी) स्थान को छिपाकर रखा था। एक चेहरे का रेखा-चित्र भी उसमें था और वह था सरसी का कोमल, सौम्य, सुलक्षण, सुंदर मुख।

बारह

"जीवन में मैंने सुख पाया है तो वह सरसी के घर में, मुझे बढ़ाने वाली पार्वतम्मा के हाथों में।

"जब कभी मल्लिका का विचार करता हूं, मुझमें अमिट भावना पैदा होती है कि वह अपने लिए जीती है, न कि आम्रवृक्ष के लिए। मन को शिक्षा देकर—आम के पेड़ की तरह मैं, जितना भी कहो, जो भी कहो, वह मुझे ही लपेटकर घेरे हुई; यदि कहूं कि वह जो फूल देती है वे सभी मेरे हैं, तो भी वह लता मेरी नहीं बनती। लता में लगे फूल भी मेरे नहीं हुए। उससे छूटे हुए फूल वास्तविक जगत में मेरे नहीं हैं, उस लता के भी नहीं हैं। वे फूल तो उनके हैं न, जो उनको पहनते हैं, चढ़ा लेते हैं। तो भी ऐसे फूलों को कम-से-कम मेरी याद बनी रहेगी; लता के लिए आखिर तक नहीं बचे।

"सरसी वैसी नहीं है। लोक-निंदा का लक्ष्य बनी होने पर भी वह वैसी नहीं है। कुल ही तो शील का निर्णय नहीं करता। लौकी के पौदे का प्रत्येक फल अलग-अलग तरह का होता है। उसका एक फल शराब पीता रहता है, तो दूसरा फल तानपूरे के मीठे नाद के लिए प्रेरक होता है। सरसी ऐसी लौकी है। तानपूरे की तुलना मेरे मन में क्यों आई? वह मेरे लिए उसे रोज लेकर उसके तार बजाने आती थी, इसीलिए? पैसा देकर संगीत सुना जा सकता है। पैसा देकर देह-सुख भी पा सकते हैं, लेकिन मन के सुख के लिए, हृदय की शांति के लिए मन देने वाला, अर्पित करने वाला कोई चाहिए !

"सरसी ऐसी नहीं है ! तो भी छोड़कर आया। यात्रा के लिए प्रस्तुत मुझे उसने भी विदा किया। यदि उसने मना किया होता, तो मेरी हालत न जाने क्या होती ! किसी प्रकार वह मुझे घर की गाय की तरह बांधकर दुह सकती थी। जब पूछा कि तुम्हें क्या चाहिए

तो कह दिया था, 'आपने जो विश्वास रखा है, वह मेरे लिए काफी है।' इतने दिन बीत गए, तो भी मेरी स्मृति से उसकी उदार बुद्धि, उसके गुण ओझल नहीं हुए। उसका त्याग महान है। 'चार बच्चों को संगीत सिखाकर मैं नहीं जी सकूंगी? आप कितना कष्ट ढोएंगे?' कहने वाली सरसी असाधारण है। मैंने नहीं सोचा था कि उसका विश्वासपात्र होने का गुण मुझमें है।"

मेरे मित्र के इस उद्‌गार से इंदुमती की मां का चित्र मेरी कल्पना में तिर गया। इंदु का चेहरा काफी हद तक पिता के चेहरे से मेल खाता था। रंग भी वही था। गुण को याद करने पर लगा, वह भी वैसा ही होगा। उसके बड़े भाई के प्रति मेरे मन में अच्छी भावना नहीं उत्पन्न हो सकती थी। थोड़े-से धन की आशा के लिए मृत मां को जीवित बना देने वाली घटना ने मुझे असंतुष्ट कर दिया। शंभु हेग्गड़े ने अगर एक तरह से मुझे धोखा दिया तो, इसने भी दूसरी तरह से।

मुझे अपने गांव आए एक महीना हो गया। ग्रीष्म के ताप को बारिश ने भगा दिया है और वातावरण में निराली सुषमा भर दी है। इंदुमती ने मेरा पता मांगकर अपने पास रख लिया था। अपने भाई से उसने अपनी मां की तसवीर मंगवाकर मेरे पास भेजी, फिर लिखा कि "हमारे पिताजी की तसवीर भेजना भूल ही गए न?" इन दोनों भाव-चित्रों को मिलाकर चित्र बनवा सकता, तो कितना अच्छा होता—इसके लिए तरसता रहा। उसके लिए योग्य चित्रकार मिलना चाहिए। उस चित्रकार को मुझे ही उस व्यक्ति के स्वभाव का वर्णन करना होगा। ऐसा करने पर केवल रंग और आकार से युक्त नहीं, बल्कि लक्षण से भी युक्त चित्र बन सकता है। उस समय मैंने अपने एक चित्रकार-मित्र को स्मरण किया। इधर, इंदु को अपने मित्र की फोटो की एक प्रति भेज दी। जून का महीना था, इसलिए पत्र में पूछा था, "यशवंत पास हो गया क्या?" फिर प्रतिमास के पच्चीस रुपये और उसमें पच्चीस रुपये और मिलाकर भेज दिए। जलजाक्षम्मा ने एक पत्र यशवंत से लिखवाया था—यशवंत पास हुआ था, उसके छोटे भाई भी परीक्षा में उत्तीर्ण हो गए। जयंत हाई स्कूल में भर्ती हो गया है। लिखा था, "नाना का फोटो देखकर हम सब खुश हुए, पर अम्मा की आंखों में पानी आ गया। पिताजी ने अब उसे सोने के कमरे में टांग दिया है। उस पर रोज एक फूल चढ़ाते हैं, मानो वह देवता हों।" अपने पूर्वजों में रहने वाली भक्ति ही वैसी है। समीप का ऋण न चुकाने वाले दूर का ऋण चुका सकते हैं? अदृष्ट देवता की कल्पना कर सकते हैं? भक्तिभाव को भी एक स्पष्ट आधार तो चाहिए ही !

इंदु का हर्षोद्‌गारों से भरा एक लंबा पत्र मिला। उसने लिखा था, "मैंने उन्हें अपने छुटपन में देखा था। उनकी गोद में खेल चुकी थी, फिर भी उनके चेहरे की याद इस चित्र के देखने के बाद आई। आपका भेजा फोटो पाकर मुझे कितनी खुशी हुई, कह नहीं सकती। सच कहूं, उस दिन मैंने खाया या नहीं, याद ही नहीं मुझे। मुझे उनकी पुत्री होने पर बड़ा

गर्व है। उसी गर्व से चलती-फिरती हूं। यदि हमारी मां आज जीवित रहती, तो इस तसवीर को छाती से लगाकर बैठती। लोग जो चाहे बोलते रहें, अपने तो अपने ही हैं न !"

मुझे एक ही बात की खुजलाहट हो रही थी—विष्णुपंतजी से मिलने की। उनके यहां जाकर, उनसे मिलकर, बातें करके मन की प्यास बुझाने के लिए जाने कब फुर्सत मिलेगी? पूना मेरे लिए समीप का नगर नहीं है—इसलिए मैंने लिख दिया, "घाटेजी, आपकी पुस्तक का काम कहां तक पहुंचा? संशोधन या लेखन का कार्य कहां तक बढ़ गया है? आपके यहां आकर, उसके बारे में बातचीत करने के लिए मौका मिल सकेगा—कह नहीं सकता। तब तक अपनी आतुरता को रोकना ही कठिन हो गया है। आपकी तबीयत अच्छी हो तो संक्षेप में ही बातचीत हो—यशवंतरायजी से आपका स्नेह कैसे हुआ? कौन-कौन-से विषय उन्हें प्रिय थे? संप्रदाय, धर्म, विश्वास, भक्ति आदि विषयों के बारे में क्या उन्होंने आपसे चर्चा की थी? आप धर्म-शास्त्र लिखने में लगे हैं। जैसी मुझे जानकारी है, उन्हें कई पुरानी बातों पर विश्वास नहीं था। आप तो मुझे श्रद्धावान दिखते हैं। आपके और उनके मन का मेल कैसे स्थापित हुआ? आदि बातों के बारे में पत्र में कैसे लिखा जा सकेगा? फिर भी आप पंडित हैं, दस पंक्तियों में लिखकर समाप्त कर दें, तो मुझे संतोष हो जाएगा। इस महीने के रुपये इस पत्र के साथ पोस्टल आर्डर द्वारा भेज रहा हूं। उस धन और मेरे प्रश्नों के बीच में कोई संबंध है, ऐसा कृपया न समझें।"

रोज उनके पत्र की प्रतीक्षा करता रहा।

दस दिनों बाद मुझे उनका एक लंबा पत्र मिला, लेकिन उससे मेरी प्यास बुझने के बजाए और अधिक बढ़ गई। अब तक पत्र के नाम पर मुझे विष्णुपंतजी के कार्ड ही मिलते थे, जिसमें "स्वस्थ हूं" या "स्वस्थ नहीं हूं", "लेखनकार्य अधिक हो गया है" से ज्यादा कुछ नहीं होता था। पिछले एक कार्ड में उन्होंने अपने मन का संशय व्यक्त किया था, "देखिए, यशवंतजी ने मुझ पर विश्वास रखकर, कृपा करके मेरा काम पूरा होने तक पच्चीस रुपये भेजने का आश्वासन दिया था। उन्हें भले ही यह रकम ज्यादा न लगे, परंतु मुझे किंचित कष्ट का काम हो गया है। अब मेरा दामाद भी कुछ दे रहा है। मेरा लड़का भी बड़ा हो गया है, नौकरी ढूंढ़ रहा है। मेरे लेखन का कार्य करीब-करीब समाप्त होने को आया है। उसके प्रकाशन का भार तो बहुत बड़ा है। इससे मेरा मन चिंतित है।"

उनके बारे में पहले से कुछ नहीं जानता था, इसलिए किसी प्रकार का धीरज बंधाने के लिए प्रवृत्त नहीं हुआ। मुझे संदेह हुआ कि क्या ग्रंथ-प्रकाशन में वह मुझसे मदद चाहते हैं! परंतु पत्र के प्रारंभ में लिखी हुई बातों से मुझे लगा कि मांगने के लिए हाथ पसारने का स्वभाव उनका नहीं है। उनके स्वभाव, शील के बारे में मैं कोई कल्पना नहीं कर सकता था, इसलिए वह बात वहीं छोड़ दी।

अब हाल में उनका जो पत्र मिला है, उसमें और भी अधिक स्पष्ट बातें थीं। वह

पूरा पत्र मैं यहां नहीं देना चाहता हूं। उसका सारांश ही दे रहा हूं। 'महाशय' इस आडंबरपूर्ण संबोधन से उनका पुत्र शुरू होता है। वह संस्कृत के पंडित हैं। शब्दों के विषय में बड़े उदार हैं, सोचकर हंसा। फिर पत्र को पढ़ा : "आप यशवंतरायजी के विषय में जो उत्सुकता दिखा रहे हैं, वह स्वाभाविक है। मैं जो कुछ जानता हूं, उसे सुनाना भी उचित ही है। लेकिन मुझे इस बात का अहंकार नहीं कि मैंने उन्हें जान लिया है। दृष्टिकोण के लिहाज से वह उत्तर ध्रुव हैं, तो मैं दक्षिण ध्रुव हूं। मैं श्रद्धालु वैदिक हूं, पुरानी परंपरा में गहरा विश्वास रखने वाला हूं। आप अपने मित्र को जानते हैं। वह अपने विश्वास को झाड़कर, ऊपर उठकर तौल सकने वाले थे। मुझे उकसाकर, छेड़कर चिढ़ाते और परिहास करते कि आप पंडित हैं, दादा के लगाए बरगद के पेड़ को गले लगाने वाली की भांति हजार-दो हजार वर्षों की पुरानी जड़ों, शाखाओं में रसी नींव को बिना छोड़े जमके बैठे हुए लोग हैं। सोचने के नाम पर न चिंता, न परेशानी !

"महाबलेश्वर जब वह पहली बार आए, तब...अकेले आए थे। निवास के लिए स्थान ढूंढ़ रहे थे। मैंने कहा : 'यदि आपको पसंद हो तो अपनी झोंपड़ी का आधा भाग किराये पर दे दूं।' हमारे घर की तंग जगह देखकर वह बोले : 'अच्छा, मुझे बड़े बंगले की जरूरत नहीं है, मन की शांति के लिए आया हूं। इन पहाड़ियों, पर्वतों को देखने से एक प्रकार का आनंद मिलता है। मन लगे तो यहां बैठकर चित्र खींचूंगा, नहीं तो नहीं।' इस प्रकार तय करके दो महीने हमारे घर में रहे। तब अपने हाथ से ही रसोई बनाते थे।

"जो भी हो उस मनुष्य का जीवन अजीब है। उम्र भी काफी हो चुकी थी, शरीर भी मजबूत नहीं। सही है कि मेरी तरह बीमार आदमी नहीं थे, तो भी अपनी रसोई आप पकाकर खाना कष्ट का काम है न? मनुष्य को दिन बिताने के लिए मनुष्य का संपर्क चाहिए। जब कभी अकेलापन महसूस करते, मेरे कमरे में आते और पूछते : 'पंडितजी, क्या कर रहे हैं?' मैं भी बातचीत करता। दमे से पीड़ित मैं दैहिक श्रम नहीं कर सकता था। पूर्वजों से संस्कृत सीखी थी। संस्कृत के अभ्यास से धर्मशास्त्रों में आसक्ति थी, अतः अकसर उन्हीं को पढ़ता था। सैकड़ों ग्रंथ पढ़े हैं। एक दिन विचार आया कि जो कुछ मैं पढ़ चुका हूं, वह हवा में उड़ न जाए। मुझे लगा कि मैं जो कुछ जानता हूं, उसे उन लोगों को सुना सकता हूं—जो संस्कृत नहीं जानते, अपने मराठी जनों को सुना सकता हूं। इस विचार से 'हमारे धर्मशास्त्र' नामक एक ग्रंथ लिखने लगा। यशवंतजी के पूछने पर उनको बता दिया था कि ऐसा एक काम हाथ में ले चुका हूं।

"उसके बाद, वह दिन में एक घंटे मेरे कमरे में बैठते। 'यह कौन-सा पत्र है?' 'यह कौन-सा ग्रंथ है?' 'इसमें क्या कहा गया है !' 'यह किस समय का है?' इस प्रकार के प्रश्न पूछते थे। मुझे जो सूझता था, वैसा मैं उन्हें बतलाता। एक दिन भगवद्गीता का प्रसंग आया।

"मैंने कहा : 'श्रीकृष्ण भगवान ने इस तरह कहा है... ।'

" 'आपने नहीं सुना था न उसे?' कहकर उन्होंने पूछा : 'भगवद्गीता का काल?'

" 'महाभारत का काल। कम-से-कम पांच हजार वर्ष तो हुए होंगे।'

" 'महाभारत का अंग है न गीता?'

" 'हां।'

" 'व्यास का काल?'

" 'महाभारत का काल।'

" 'वह विचार छोड़िए। चारित्रिक, ऐतिहासिक दृष्टि से व्यास नामक कवि ने जो महाभारत लिखा, उसका काल कौन-सा है? इस बारे में आपके विद्वान क्या कहते हैं?'

"मैंने वैद्यजी की राय सुनाई।

" 'तो गीता भी उसी काल की हुई न? पांच हजार साल पहले के कृष्ण के मुंह से व्यास द्वारा सुनाई गई गीता है यह !'

" 'श्रीकृष्ण भगवान।' मेरे कहने के पहले ही उन्होंने यह कहकर वाक्य पूरा किया, 'चार-पांच हजार वर्षों बाद व्यास के मुंह से कहलाया।'

"मैंने कहा कि 'मैं उस दृष्टि से नहीं सोचता।'

" 'ब्रह्मा ने स्वयं आकर वेदों को सुनाया—यह कहने वाले आप हैं।'

" 'यह सही है।'

" 'तो फिर हमारे और आपके बीच ऐसे विषयों पर चर्चा ही नहीं होनी चाहिए।'

"ऐसी कई चर्चाएं रोज हमारे बीच हुआ करती थीं। इसलिए मैंने कहा था कि वह उत्तर ध्रुव हैं, मैं दक्षिण ध्रुव हूं। मेरे लिए आश्चर्य की बात वह नहीं थी, पर गरीबी में भी धर्मशास्त्र पर मराठी में ग्रंथ-रचना करते देखकर उनका प्रोत्साहित करना मुझे आश्चर्य में डाल देता। मैंने विस्मय प्रकट किया : 'यशवंतजी, आपकी रीति समझ में आने वाली नहीं है। मेरे मार्ग को आप नहीं मानते, कहते हैं कि धर्मशास्त्र हजारों लोगों के विविध सदियों के विश्वास हैं और फिर भी उसी को लिखने के लिए कहते हैं !' सोचा था कि वह मेरा परिहास करेंगे। तब उन्होंने कहा था : 'घाटेजी, आप वह नहीं हैं न, जो मैं हूं !'

" 'कैसे हो सकता हूं?'

" 'इसीलिए आपको लिखना चाहिए। मेरा विश्वास मेरे लिए, आपका आपके लिए। आप ही सच होंगे या मैं भी सच हो सकता हूं। दोनों भी गलत हों, या हो सकता है हमारी विचारधाराओं में सत्य-असत्य का मिश्रण भी हो।'

" 'हो सकता है।'

" 'आप मानते हैं?'

" माने बिना भी हो सकता है।'

" 'तो आपका जीवन, आपके विचार हम लोगों को मिलने ही चाहिए। हम चाहे जितने भी बुद्धिमान हों, चाहे जितने भी सही हों, प्रत्येक जीव का अपने देखे प्रकाश में ही चलना उचित है। यही सच है, यही सच है, कहकर दूसरों का गला घोंटकर वाणी का नियंत्रण करना समाज-घातक है।'

"मुझे उनकी बातें सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ। हम लोगों में चाहे विद्वान-वर्ग के हों या आचार्य हों, सबसे बड़ा दोष यह सोचना है कि मेरी ही बात सही है, बाकी सारी दुनिया मूर्खों की है। मुझे लगा कि हजारों-लाखों की राय की झंझट के बावजूद सत्य अपनी शक्ति के आधार पर ही बचा रह सकता है—प्रतिवादी या मुंह दबाकर कुतर्क करके उसे नहीं बचाया जा सकता। इस विषय में यशवंतजी ने ही मेरी आंखें खोलीं। और क्या लिखूं भाई, उनके बारे में ! वह बहुत बड़े व्यक्ति थे। दिखाई पड़ने वाला व्यक्तित्व उनका नहीं था; वह एक अन्य व्यक्तित्व था, जिसे मैं नहीं देख पाया था।

"उसके बाद उन्होंने कहा : 'यही काम आगे बढ़ाइए। जो काम आप कर सकते हैं, उसे आप ही को करना चाहिए। अधिक सहायता मुझसे नहीं हो सकती, तो भी स्याही, कागज, चार-छह संदर्भ-ग्रंथों के लिए आवश्यक धन मैं दूंगा।' इसका फल ही है आपका दिया जाने वाला मासाशन। वह इसी तरह देते आए थे।

"अब मुझे एक बहुत बड़ा डर लग रहा है। इस मास के प्रारंभ में ही पांच सौ पृष्ठों का ग्रंथ कड़ी मेहनत से लिखकर समाप्त कर चुका हूं। मैंने कहा न कि मैं संप्रदायवादी हूं। यशवंतजी ने मेरे विचारों को हिला दिया—'यह काल कौन-सा?' 'पहले कही हुई बात किसकी?', 'वह क्या है?,' 'उसके बाद कहने वाले कौन हैं?' 'इस श्लोक का यही अर्थ होता है?' 'इसका सिद्धांत कैसे करते हैं?' कहकर वह मुझे चिढ़ाते थे। तब मुझे लगा कि मेरे काम में कितना कष्ट है। मुझे कई स्थलों पर संदेह होने लगा। जो मैं जानता हूं, वह सही है या गलत; तो भी समाज के सामने रखता हूं, विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करता हूं। आपके आगमन की प्रतीक्षा किस दिन करूं?" लिखकर उन्होंने पत्र समाप्त किया था।

वर्षाकाल बीत गया। यहां एक बादल, वहां एक बादल आकाश में फैलकर तैरता रहा। मेरा देश शस्यश्यामला होकर वर्षा से निर्मल हो गया है। सर्दी, हवा, पानी से डरे पशु-पक्षी अब स्वच्छंदतापूर्वक एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर कूदने-फांदने लगे हैं। अन्न की सामग्री ने उनका सारा कष्ट दूर कर दिया है। असंख्य अनाम पक्षी संगीतशास्त्र की पहुंच के बाहर के गीत गुनगुना रहे हैं। सूरज ने बादलों से आंख-मिचौनी समाप्त कर ली है और अब खुले नीले आकाश में तैर रहा है। ऐसे में आदमी भला ऊब की चादर ओढ़कर सोया रह सकेगा?

मुझे बंबई की याद आई। युद्ध के कारण हमारे गांव और बंबई के बीच जहाजों का आवागमन रुक गया था, तो भी प्रवास करने का विचार किया। बस द्वारा यात्रा शुरू की।

उसमें बैठे-बैठे सह्याद्रि तक पहुंचा, फिर पहाड़ी प्रदेश के आंचल में प्रवेश करके आगे बढ़ा। मैदानी प्रदेश में रेलगाड़ी पकड़ी। इन प्रदेशों में हमारे गांव जैसी या पहाड़ जैसी वर्षा की छटा नहीं हैं, तो भी वर्षाऋतु आ गई थी। रास्ते-भर काली जमीन पर ज्वार, कपास, काला तिल आदि फसलों का हरा कालीन मीलों तक फैला था। मैं ट्रेन में खिड़की के पास बैठा। हवा के झोंकों से जब इस हरे समंदर में लहरें उठतीं, तो हृदय में भी आनंद की लहरें उठने लगतीं। इससे रास्ते की दूरी का पता नहीं चला। बेलगांव नगर के आने तक भी हरियाली ही थी। उसके बाद अंधेरा। बेलगांव में जिस डिब्बे में बैठा था, उसमें लोगों ने घुसकर शोरगुल नहीं मचाया। आराम से मैं सो गया। सबेरे पूना में ही नींद टूटी।

विष्णुपंतजी अपने घर से ही लगे रहने वाले थे--यह उनके पत्रों से जान लिया था। रेलगाड़ी से उतरते ही एक तांगा किराये पर लेकर सीधे शनिवार पेठ में उनके घर गया। उस समय वह घर में नहीं थे। वह अपने दामाद के घर में रहते थे। घर में बेटी और दामाद थे। उनसे खबर मिली कि घाटेजी किसी कार्यवश नासिक गए हैं। तब मैंने नाक खुजलाते हुए पूछा, "कब आएंगे?"

"कल ही आएंगे।" उन्होंने मेरे बारे में जानना चाहा और मैंने बता दिया। उस दंपति ने पंतजी के आने तक अपने घर में रहने का आग्रह किया। पंतजी के बिना उस घर में रहना मैंने ठीक न समझा और कहा कि आठ दिनों बाद जरूर आऊंगा। फिर नाश्ता करके पंतजी के नाम एक पत्र लिखकर मैंने रख दिया। वहां से फौरन रेल से बंबई रवाना हो गया।

जब मेरा मन उत्साह से भरा रहता था या ऊब भी जाता था, तब मैं चार-पांच दिन बंबई नगर में बिताया करता था। मेरा गांव तो ऐसा है कि वहां लोगों की भीड़ कम रहती है, परंतु बंबई की तो बात ही अलग है। लाखों लोगों का अपनाया हुआ, वह नगर जनारण्य है। मेरे मित्र यशवंतरायजी के शब्दों में, इस तरह का वर्णन किया जा सकता है--अरण्य बड़ा हो जाए तो उसमें बेल-बूटों, वनस्पतियों की संख्या भी अधिक रहती है। आप उसमें कोई भी औषध का पेड़ देख सकते हैं। पेड़ों का परिचय हो तो जो चाहे हम कर सकते हैं।

यों ही मैंने उस नगर में कुछ पेड़ों का परिचय पा लिया था। पेड़--यानी मनुष्य। बंबई नगर छोड़कर नहीं हिलते। 'मेरा जन्म यहीं, जीवन यहीं, मृत्यु भी यहीं' तय करके रहने वाले मेरे मित्र-वर्ग के कुछ लोग यहां हैं। ऐसे नर-वृक्षों को देखने में समय बिताया।

अब मन में जो काम ठानकर आया हूं, वह काम बाकी है। मैं जिसके कारण आया, वह चित्रकार यहां है। जिस दिन आया, उस दिन उसके घर जाकर उससे कहा, "इतनी बार आपके यहां आया हूं, पर अबकी बार की बात अलग है। अबकी बार आपकी परीक्षा लेने आया हूं।" इस प्रकार अपनी डींग हांककर अपने दफतर से यशवंतरायजी के खींचे

चार-पांच चित्र निकालकर मैंने उसके सामने रख दिए। साथ में यशवंतरायजी का एक फोटो भी था। उस मित्र ने यशवंतरायजी के फोटो की ओर नहीं देखा। तब मैंने उठाकर उसे अपनी जेब में रख लिया। मित्र ने अत्यंत कुतूहल से पंद्रह मिनट तक प्रत्येक चित्र को देखा। 'ढोर', 'भैंस का बछड़ा', 'दाद', 'रीमा', 'टीमा' जैसे चित्र वहां थे। उन्हें देखकर वह हंसा।

मैंने पूछा, "क्यों हंसे?"

"इनकी एक आंख है, जो हममें नहीं है, चित्रकला का तंत्र कुछ भी नहीं है। सच है, उसे सीखना पड़ता है। चित्र खींचने की कला में सिद्धि नहीं मिली है। लेकिन, उन्हें कुछ भी मालूम नहीं—ऐसा नहीं कहा जा सकता। उनमें गहरी दृष्टि है। किसने खींचा इनको?"

तब मैंने जेब से फोटो निकालकर दिखाया।

"यह कहां के हैं?"

"स्वर्गपुर के।"

"स्वर्गपुर कौन-सा?

"स्वर्ग का पुर ही स्वर्गपुर है।"

"मर गए हैं?"

"अब संतोष हो गया न ! आप भी चित्रकार हैं, वह भी चित्रकार हैं, तो भी आपके प्रतिस्पर्धी नहीं हो सकते। इसका विश्वास हो गया न?" कहने के बाद उनके बंबई में रहने की बात बताई। फिर मैंने उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक उनके जीवन के कथानक के छोटे-छोटे प्रसंगों का वर्णन किया। उसके बाद धीरे से कहा, "देखिए, गद्य लिखने वाला मैं, इनका जीवनचरित्र बल्कि एक कथानक लिख रहा हूं। आप भी इन्हें देखते तो अच्छा रहता। आपने नहीं देखा, मरे हुओं को मैं भी नहीं दिखा सकता। बदले में आप यह फोटो रख लीजिए। साथ में यह भी रहे।" कहते हुए सरसी का अस्पष्ट चित्र भी दिया। इसके अलावा डाक-स्टैंप के गात्र का रेखाचित्र, जो डायरी के अंतिम पृष्ठ में था, उसे भी सामने रखा। उनका दांपत्य-जीवन, विरस जीवन, 'शिरसि' का जीवन बताया, "इनको लेकर जो कुछ कर सकते हो, कीजिए। मैं चार दिनों बाद वापस आऊंगा। कुछ भी न हो सके, तो वापस आने पर लौटा दीजिएगा। हमारे गांव में एक ड्राइंग मास्टर हैं, उनसे कहूंगा। वे कभी मृत लोगों को, नाम भी न जानने वालों का लंबा-चौड़ा पेट करके, जरीदार फेटा लपेटकर, पास में एक फूलदान रखकर 'बम्मनहल्ली के महाराजा हैं ये' जैसी बातें लिख देते हैं। यानी आपको यह काम करना पड़ेगा या उनके बनाए चित्र को देखकर आत्महत्या कर लेनी होगी।" मैंने परिहास किया।

मेरे मित्र ने कहा, "अब मैं कुछ कह नहीं सकता। मुझे आत्महत्या करने की नौबत आ भी जाए, तो एक कप कॉफी में कूदकर प्राण त्याग दूंगा!"

चार दिनों बाद जब मैं पहुंचा, तो चित्र तैयार हो गया था। मेरे मित्र ने एक भाव-चित्र

खींचा था, जिसमें तानपूरा लिए निराभरण सुंदरी सरसी गा रही थी और समीप में मेरे मित्र यशवंतजी बैठकर भावमग्न हो रहे थे।

"हाय ! यदि यह चित्र इंदुमती देखेगी, तो बांसों उछल पड़ेगी !"

"इंदुमती कौन?" मेरे मित्र ने पूछा। तब मैंने अपने उस चित्रकार मित्र की वह कहानी भी बताई।

अपना प्रमुख कार्य समाप्त हो जाने के बाद, बंबई की वनस्पतियों से संग्रह कर सकने भर की कोंपलें और फूल मैंने तोड़ लिए। फिर पूना गया। अब की बार विष्णुपंत घाटे जी ने ही दरवाजा खोला। विष्णुपंतजी साधारण कद के, सफेद रंग के और दुबले-पतले शरीर के हैं। मेरा स्वागत करके, उसी कृष्णाजिन चमड़े पर बैठाया, जिस पर स्वयं बैठकर लिखते थे। फिर बातचीत शुरू की। कुशल-समाचार पूछा। यशवंतरायजी के प्रति गौरव की मानो उन्होंने वर्षा ही की। उसके बाद 'धर्मशास्त्र विचार' की हस्तलिखित पांडुलिपि मेरे सामने रख दी, "उन्होंने मुझे धन की सहायता के अलावा, काम करने की प्रेरणा देकर मुझसे यह काम करवा ही लिया। मुझे इसका भरोसा नहीं कि यह छप जाएगा, लोग इसे पढ़ेंगे। मैं उतना बड़ा व्यक्ति भी नहीं हूं। कर्तव्य के लिए कर्तव्य किया है।

"और, एक बात कहता हूं—आप कुछ भी न समझें। यह काम पूरा हो जाने पर मैं यशवंतरायजी के हिसाब पर धन नहीं ले सकता।" मुझे उनके इस व्यवहार पर अचरज हुआ।

वह सारा दिन मैंने विष्णुपंतजी के साथ आत्मीयतापूर्वक बिताया। उन्होंने मराठी छोड़कर अंग्रेजी में बोलने का प्रयत्न किया, पर सफल नहीं हो सके।

उनके दामाद के जरिए, अंग्रेजी की सहायता से एक-दूसरे को हम जान गए। उनसे पहले-पहल जो पत्र मुझे मिले थे, वे मराठी में थे। तब अनुवाद की सहायता जरूरी थी। उसके बाद वह अपने दामाद से अंग्रेजी में लिखाने लगे। अब भी उनका दामाद ही हम दोनों के बीच दुभाषिया बन गया।

कई बार उनके और यशवंतरायजी के बीच में जो संभाषण होते थे, उनका ब्यौरा उन्होंने सुनाया। घाटेजी धार्मिक विषयों में आसक्ति—अभिरुचि रखने वाले थे, इसलिए इन-उनके बीच में चर्चा और संभाषण के विषय धार्मिक ही होते थे। विश्वास का मूल प्रयोजन, जीवन की समस्या, मत-संप्रदाय-धर्मों की इति व मिति—ऐसी चीजें उनकी चर्चा का विषय थीं। दोनों के विचार उनके अनुसार—उत्तर-दक्षिण ध्रुव थे।

"विचार कोई भी क्यों न हों; हम दोनों ने भिन्न-भिन्न संस्कार पाये थे। अतः राय में भिन्नता का रहना भी स्वाभाविक था। परंतु उनके अंदर मानवता का पक्ष ज्यादा था, इसीलिए उन्होंने इतनी सारी मदद की। मुझे उन्होंने प्रोत्साहित किया।"

मैंने उनकी बात पर सिर हिलाया। पूछा, "पंतजी, जन्मांतर के बारे में, आत्मा-परमात्मा

के विषय में आपके और उनके विचार क्या थे? कैसे थे?"

"उत्तर धुव, उत्तर ध्रुव ही है। विष्णु पंत, विष्णु पंत ही है ! यशवंतजी, यशवंतजी ही हैं !"

"उनकी राय क्या आपको मालूम हुई?"

"उनका एक तरह का अद्वैत था। उसे मैं आधुनिक अद्वैत कहूं? जैसे द्वैति शंकराचार्य जी को नास्तिक कहते हैं, वैसे मैं भी कोई एक दूसरा नाम दे सकता हूं। ऐसे व्यक्ति जीवन पर विश्वास करते हैं। व्यक्ति के भीतर की आत्मा पर विश्वास नहीं करते। इसलिए उन्हें परमात्मा का प्रश्न मुख्य नहीं लगता। भक्ति, मोक्ष—इन विषयों में उनकी अभिरुचि नहीं होती। मैंने एक बार पूछा, 'क्या आप कहते हैं कि परमात्मा नहीं है?' फिर उन्होंने सवाल किया, 'वह तो आप जानें, आपने देखा है?'

" 'वेदों में कहा गया है। हर धर्म में कहा गया है।'

" 'आपने जिन धर्मों के बारे में सुना है, उन सभी धर्मों में। कहते हैं कि ऐसे धर्म भी हैं, जिनमें परमात्मा का विचार ही नहीं उठाया गया है। उन धर्मों ने अपने को अज्ञात विषय नहीं बनाया।'

" 'यदि मैं कहूं कि सनातन धर्म ही श्रेष्ठ है, तो?'

" 'जो विश्वास करते हैं उनके लिए वही धर्म श्रेष्ठ है।'—कहकर वह हंसे।

"तो आप मुझसे पूछ सकते हैं—क्या वह नास्तिक हैं? सारी दुनिया को, जीवों को उन्होंने ममता और सहानुभूति से देखा है। उनकी दृष्टि में सभी जीवन समान हैं। ऐसे जीवन में, जीव में पहले भी, आज भी, कल भी भेद न देखने वाली एक तरह की अद्वैत विचार-धारा थी उनकी। इसके लिए उन्होंने अद्वैत कहा। वह तो सांप्रदायिक विचाराधारा है ही नहीं।"

मेरे मित्र विष्णुपंतजी को यशवंतरायजी की विचारधारा में यद्यपि विश्वास नहीं है, तथापि उनके व्यक्तित्व में अपार आदर है, यह मालूम हुआ।

पंतजी से विदा लेने से पूर्व पूछा, "आपने अपने ग्रंथ की छपाई का क्या प्रबंध किया है?"

उन्होंने कहा, "कुछ भी नहीं किया है।"

"कितने रुपये लगेंगे?"

"आर्यभूषण प्रेस वाले कहते हैं कि करीब तीन हजार लगेंगे।"

"किसी प्रकाशक से नहीं मिले?"

"नहीं मिला हूं, ऐसा नहीं है। मिलने से कोई फायदा नहीं हुआ है। यह कहां छपेगा? क्या यह उपन्यास है? कहते हैं कि इस जमाने में धर्मशास्त्र किसको चाहिए?"

उनकी यह बात सुनकर मैं हंसा। कहा, "देखिए, मैं तो कहानी-उपन्यास लिखने वाला आदमी हूं। कहानी लिखें तो लोग पढ़ेंगे, इसे कौन पढ़ेगा? हमारे लोगों की आधुनिकता

यही है ! आकाश से उतरकर जमीन पर बैठी आधुनिकता ! यहां जो भी पैदा हुआ हो, जितना भी आधुनिक हो, लोग यह नहीं समझते कि बीज जड़ों की सहायता से पेड़-जैसी शाखा को प्रस्फुटित करता है और उसमें फूल लगते हैं। ऐसी है यह आधुनिकता ! फिर भी आप जो प्रयास कर सकें, कीजिए।" कहकर मैंने विदा ली।

आप अनुमान लगा सकते हैं कि मैं बहुत प्रसन्न-मन अपने गांव पहुंचा। मेरी समस्या छोटी होती गई। यशवंतजी ने जो जिम्मेदारी सौंपी थी, उसे निभाने में कोई कष्ट नहीं हो सकेगा। पार्वतम्मा चल ही बसी हैं। बेनकय्या के मंदिर ने करीब दो हजार रुपये खाए। शीत को मैं भूल सकता हूं, मंजय्याजी और उनके बच्चों को नहीं भूला जा सकता। अब क्या है? कितना दिया, कितना बचा, हिसाब लगाया। बेनकय्या का मंदिर बनवाना ही चाहिए—ऐसा लगा था। विष्णुपंतजी के ग्रंथ-प्रकाशन के लिए यशवंतजी के नाम पर तीन हजार रुपये देने चाहिए। फिर बाकी बचा धन अपने मित्र के दामाद के कुटुंब, यानी मंजय्याजी की सहायता के लिए एक प्रकार की मनौती के रूप में रखना तय किया। इसके लिए आवश्यक प्रबंध करने लगा। मंजय्याजी से भी पूछा। पंतजी को पत्र लिखा। इंदुमती से भी पूछा, "तुम्हारे पिताजी की स्मृति के रूप में तुम्हें क्या चाहिए?" उत्तर पाकर तदनुरूप प्रबंध किया। अपने लिए मैंने केवल उनकी डायरी या संस्मरण-ग्रंथ रख लिया।

कुल हिसाब लगाकर देख रहा हूं। अपना हिसाब नहीं। भरपूर जीवन जीने वाले यशवंत जी का हिसाब। उनके सिद्धांत के अनुसार—संसार से, समाज से जितना पाया उसे कम दिया था, इसका हिसाब। ऋण चुकाने के हिसाब से—कौन किसका ऋणी हुआ?

यशवंतजी ने सब तरह से जो लिया, उसकी तुलना में उन्होंने जो दिया, वह कम था—ऐसा मुझे नहीं लगता।